Chapter-3

तृतीय अध्याय

विवेच्य उपन्यासों में नैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और आर्थिक परिस्थिति

विवेच्य हिन्दी उपन्यासों में मध्यमवर्गीय नैतिकता:

आज के मशीनी युग में वैज्ञानिक खोजों और तकनीकी विकास के कारण मनुष्य जीवन अत्यंधिक संघर्षशील, आशंकित, कुंठित और पीड़ामयी हो गया है। 'नैतिकता' शब्द ऐसे में परम्परागत से आधुनिक रूप कब ग्रहण कर लेता जाता है। इसका वह अर्थ नहीं रह जाता जैसा परम्परागत रूप से समाज ग्रहण करता आया है।

किसी भी आवश्यकता की पूर्ति के लिए सबसे पहले मनुष्य अपने दिमाग में विचार उत्पन्न करता है। उसके बाद अपने विचारों के अनुसार अनुसरण करता है, अगर इस कार्य से मनुष्य को संतोष होता है तो वह बार-बार उसी कार्य को दोहराता है और वह उसकी आदत बन जाती है। अगर मनुष्य की यह आदत समूह के दूसरे लोगों को अच्छी लगती है तो वे भी वही कार्य करते हैं। इस प्रकार बनी हुई नीति एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक परम्परागत चली आती है। अंत में वे परंपरागत नियम और नीति बन जाते हैं। इस कारण मनुष्य के समाज में कुछ नीति-नियम बन जाते हैं। उसकी कुछ नैतिक मूल्य या मान्यताएँ बन जाती हैं। मनुष्य को आर्थिक दृष्टि से तीन वर्गो में बाँटा गया है - (1) उच्च वर्ग (2) मध्यमवर्ग (3) निम्न वर्ग। इन सभी वर्ग के अपने-अपने रीति-रिवाज, मान्यताएँ, प्रथाएँ, जनरीतियाँ हैं। इस वर्ग की जो भी परंपरा है, वह पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे बढ़ती रहती है। लेकिन आज के आधुनिक युग में शैक्षणिक व्यापकता की वजह से आधुनिक पीढ़ी उसमें बदलाव चाहती है। जिस वजह से पुरानी पीढ़ी के मूल्यों और आधुनिक पीढ़ी के विकसित नवीन मूल्यों में अंतर्द्वन्द्व देखने को मिलता है। जिससे वृद्ध पीढ़ी और युवा पीढ़ी के बीच एक प्रकार का असामंजस्य भाव गहरा होता गया है। वे एक दूसरे के प्रति भावात्मक कम और बुद्धिवादी अधिक होते जा रहे हैं।

मध्यमवर्ग के कुछ नैतिक मूल्य होते हैं जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी चले आते हैं। खान-पान, रहन-सहन, व्यवहार, बातचीत, बच्चों का पालन, आचरण, आदतों इन सभी संदर्भो में नैतिक मूल्य निहित होते हैं। जैसे वैवाहिक सम्बन्ध का निर्धारण प्रायः माता-पिता के द्वारा किया जाता

है। प्रेम–लग्न, विधवा लग्न, पुनःलग्न, आन्तर्जातीय विवाह आदि को मान्यता नहीं है। गुरुजनों का सम्मान, माता–पिता की आज्ञा का पालन करना, सद सत्य बोलना, मोक्ष प्राप्ति हेतु पुत्र की प्राप्ति, स्वर्ग जाने हेतु प्रत्येक कन्या का विवाह, परम्परागत मान्यताएँ, प्रथाएँ, रुढ़ियाँ, रीतियों का पालन करना।

डॉ. एच.एम. जॉनसन ने नीति सम्बन्धी मूल्यों की परिभाषा में बताया है– ''नैतिक मूल्यों को एक धारणा या मान के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो कि सांस्कृतिक हो सकता है या केवल व्यक्तिगत और जिसके द्वारा चीजों की एक–दूसरे के साथ तुलना की जाती है, स्वीकार या अस्वीकार की जाती है।''[1]

नवीन सामाजिक व्यवस्था में भारतीय समाज ने परम्परागत नैतिक मान्यताओं का ह्रास करते हुए नवीन नैतिक प्रतिमानों की ओर दिलचस्पी दिखाई है। जो साठोत्तरी बाद के उपन्यासों में देख सकते हैं। ''प्रायः उपन्यासकारों ने सामाजिक विचारों को उपदेशात्मक शैली में प्रस्तुत करते हुए नैतिकता के सामाजिक प्रतिमानों को स्थापित करने का प्रयास किया है। तत्कालीन सामाजिक समस्याओं जैसे पर्दा–प्रथा, दहेज–प्रथा, अस्पृश्यता आदि को आधार बनाकर सामाजिक परिप्रेक्ष्य में नैतिकता का आहवान किया गया है।''[2]

साठोत्तरी उपन्यासकारों ने मध्यमवर्गीय पारंपरिक सामाजिक मूल्यों को स्वीकार करते हुए पनपते हुए आधुनिक मूल्यों का अंगीकार किया। इन उपन्यासकारों ने मध्यमवर्गीय समाज में पाश्चात्य देशों की विचारधारा, सभ्यता, संस्कृति का अनुकरण, वैवाहिक अधिकार, आर्थिक आत्म–निर्भरता, स्त्री–पुरुष सम्बन्धों में समानाधिकार, पारिवारिक एवम् सामाजिक मूल्यों में विघटन, संयुक्त परिवार का विच्छेद, प्रेम और यौन सम्बन्धी नवीन नैतिकता, नारी स्वातंत्र्य की भावना, धार्मिक रुढ़ियों का विश्रृंखलन, प्रेम में एकनिष्ठता के स्थान पर स्वेच्छाचार आदि नवीन नैतिक मूल्यों का आगमन दिखाया गया है। डॉ. राजेन्द्र प्रताप का कहना है कि– ''परिवर्तित आर्थिक परिवेश में उपजे मध्यवर्ग के कौटुंबिक एवं सामाजिक मर्यादा, आर्थिक स्वावलंबन के संदर्भ में नर–नारी सम्बन्धों, अर्थाभाव, पूँजीवाद, व्यक्ति की अतृप्त आकांक्षाओं, पूँजीवाद के निरंतर शोषण, यन्त्रीकरण से उत्पन्न मानवीय असहायता ने सामाजिक जटिलताओं को जन्म दिया है।''[3]

आज मध्यमवर्गीय समाज में पीढ़ियों के बीच बढ़ता हुआ अंतर दो विभिन्न प्रकार की वैचारिक मान्यताओं और मूल्यों से जुड़ी हुई दो पीढ़ियों के बीच का अंतर है। एक पीढ़ी अपने पारंपरिक मूल्य संसार से जुड़ी हुई है और दूसरी अपने आपको इनसे कटा हुआ महसूस करती है। नए मूल्यों की निरंतर खोज में लगी हुई है। साठोत्तरी मध्यवर्गीय उपन्यासों में हमें ऐसी स्थिति उभरती दिखाई दे रही है जिसमें पुरानी पीढ़ी की मूल्यों के प्रति आस्था डगमगाने लगी है। अपने पारंपरिक आस्था और विश्वास से अब वे इन मूल्यों से जुड़ा हुआ अनुभव नहीं करते हैं। इस तरह एक प्रकार का प्रश्नात्मक भाव इस पीढ़ी के मन में पारंपरिक मूल्यों के प्रति हाल के डेढ़ दो दशकों में दिखाई देने लगा है, पर सांस्कारिक प्रभाव इस पर इतने गहरे हैं कि उनसे न तो अपने आपको विलग कर पा रही है, और न कोई स्पष्ट विरोध व्यक्त कर पाती है । केवल प्रश्नों और प्रतिप्रश्नों की एक लंबी कड़ी उसके मन में उठती है जिसे वह एक स्वरूप तो दे पाती है और अपने अंदर महसूस भी करती है, पर खुली अभिव्यक्ति देने का साहस नहीं जुटा पा रही है। इस असमर्थता के कारण एक प्रकार का रोष भी उनके मन में है और गहरा असंतोष भी। वह रोष और असंतोष कभी उसमें कुंठा उत्पन्न करता है, कभी ग्लानि और कभी विरक्ति। पर अपने प्रति उपजा हुआ वह गहरा असंतोष प्रायः अपनी पीढ़ी या पुत्र पीढ़ी के प्रति आक्रोश, खीझ और झुंझलाहट के रूप में व्यक्त होता है। वह उसके नए मूल्य प्रतिमानों को संशय की दृष्टि से देखती है, प्रश्नात्मक भाव से देखती है, कभी उसे विद्रोही बताती है तो कभी उसे परंपरा से कटा हुआ। पुरानी पीढ़ी अपने आप में यह अनुभव करने लगती है कि नई पीढ़ी से उसका सामंजस्य स्थापित नहीं हो पाता है।

नई पीढ़ी के मन में पारंपरिक मूल्यों के प्रति जो संशय का भाव था वह आधुनिक युग में निश्चित रूप ले लिया है। अतीत के गौरव के रूप में उसका संरक्षण करना उन्हें अनुचित लगता है। नई पीढ़ी के सामने यह पारंपरिक मूल्य एक भ्रम ही हैं, जिससे वह बचना चाहते हैं। एक ओर नई पीढ़ी खुद पुरानी पीढ़ी को आदर और सम्मान न दे पाने की असमर्थता और अहसास की कटु अनुभूति करती है तो दूसरी ओर पुरानी पीढ़ी का नई पीढ़ी से वही पूर्व अपेक्षित आदर–सन्मान पाने की लालसा दोनों पीढ़ियों के बीच अंतर को बढ़ा देता है। साठोत्तरी मध्यमवर्गीय उपन्यासों में यह सभी परिवर्तित नैतिक मूल्यों का निरूपण हुआ है। अज्ञेय, यशपाल, अमृतलाल नागर, राजकमल चौधरी, निर्मल वर्मा, उषा प्रियंवदा, भगवतीचरण वर्मा, मन्नू भंडारी, मोहन–राकेश, कमलेश्वर, श्रीलाल शुक्ल आदि उपन्यासकारों के उपन्यासों में परिवर्तित नैतिक मूल्य देखने मिलते हैं।

''अमृत और विष' के रमेश को 'हिन्दुस्तानी जीवन का पुराना ढर्रा' नापंसद है।''[4] व्यक्ति के अंतरमन को आंदोलित करने के लिए सामाजिक व्यवस्था ही कारणभूत है यह इस उपन्यास में स्वीकार किया गया है। ''उन्नीसवीं शती में प्रायः अन्तिम दो दशकों से लेकर अब तक व्यक्तियों ही ने समाज को झकोले दिये हैं। पुराना समाज प्रायः इन्हीं झकोलों से टूट–टूटकर क्रमशः नया बन रहा है।''[5] अमृत और विष का अरविंद शंकर तो जन्मजात सामाजिक असंगतियों के प्रति आक्रोश व्यक्त करता हुआ कहता है– ''मेरी किशोरावस्था, सारी तो जवानी और जवानी विद्रोह में ही आस्था रखकर बीती है।''[6]

भगवतीचरण वर्मा खुद अपनी कृति 'भुले बिसरे चित्र' में स्पष्ट करते हैं: ''वास्तविक जीवन और उसकी प्रगति प्रचलित मान्यताओं के विद्रोह में है।''[7]

'अमृत और विष' में मध्यमवर्गीय पात्र ''रमेश का क्रान्तिकारी व्यक्तित्व पहले सामाजिक रुढ़ियों के प्रति विद्रोहशील है, पुनः इसे नयी व्यवस्था में रुपान्तिरित करने की कोशिश में लगा हुआ है। अपनी क्रांतिकारिता के बिम्ब में ही वह तरुण छात्र–संघ का नेता बनता है। युवा पीढ़ी की आकांक्षाओं और हितों के लिए जगह–जगह संघर्ष करता है। इतना ही नहीं, उसकी मानवीय भंगिमाएँ उसे बाढ़ग्रस्त इलाकों में जन सामान्य की सेवा हितार्थ अपनी जान पर खेलने तक प्रेरित करती है। मन्दिर बनाने के पार्श्व में बनियावृत्ति के पूँजीवादी षडयंत्र के पर्दाफाश के लिए वह और उसके साथी भूख हड़ताल करते हैं। अपनी ही पीढ़ी के किन्हीं अवसरवादी लोगों द्वारा प्रताड़ित होने के बाद भी वह झुकता नहीं। संघर्ष की यह वृत्ति उसकी प्रकृति में है। सामाजिक रुढ़ियों के प्रति विद्रोहशील होने की भंगिमा उसे विधवा रानी से अन्तर्जातीय प्रेम–विवाह करने की प्रेरणा भी देती है।''[8]

'अमृत और विष' में मध्यमवर्गीय समाज में आर्थिक जटिलताओं के कारण नई पीढ़ी के युवक–युवती के विद्रोही और विकृत मानस का परिचय कराते हुए नागर लिखते हैं: ''मेरे सामने कुंठित नौजवान भारत बैठा था, जो बेकार है, दरिद्रता से नफरत करता है, उन्नतिशील जीवन चाहता है और न मिलने पर दुत्कारे जाने पर अपने कुंठित आत्मसम्मान के लिए, जीवन सुरक्षा के लिए कितना अविवेकी, क्षुद्र और अन्धस्वार्थी हो जाता है। यह सभी अपराधी नहीं, विकृत विद्रोही–भर हैं।''[9]

परंपरागत परिवारि जात–पात या संस्कारगत मूल्यों से मुक्त होकर वैयक्तिक मान्यताओं से मध्यमवर्गीय समाज में विकास दिखाई देता है। 'अमृत और विष' में विधवा रानी और रमेश के विवाह में

मध्यमवर्गीय स्त्री पुरुष ने परंपरागत सतीत्व प्रथा को ललकारा है। रानी स्वयं इस बात से सहमत है: ''पुराने सतीवाले सिद्धान्त की कसौटी पर तो मैं खरी नहीं उतर सकती। लेकिन क्या मैं सती नहीं हूँ।''[10] इस प्रकार विधवा पुनःविवाह के द्वारा परंपरागत सतीत्व, पतित्व आदि में युगानुकूल परिवर्तन दिखाया गया है।

आधुनिक मध्यमवर्गीय समाज में दैनिक परिस्थितियों के मुताबिक युवक–युवतियों को स्वच्छंदतापूर्वक मिलने–जुलने का अवसर अधिक प्राप्त हुआ है। नारी–शिक्षा और नारी स्वतंत्रता यह दोनों बातें इसमें अन्तर्निहित हैं। इस कारण मध्यमवर्गीय युवावर्ग में प्रेम एवं यौन के क्षेत्र में नैतिकता के नवीन प्रयोग हो रहे हैं। आज का आधुनिक विचारों से प्रभावित मध्यमवर्गीय युवा सेक्स को लेकर मन में कुण्ठाएँ पालना, सतीत्व और कौमार्य नष्ट होना आदि बातों को निरर्थक मानता है। अपने नये विचारों में सेक्स को चरित्र के साथ नहीं जोड़ते।

'अमृत और विष' उपन्यास के नारी उमा माथुर भूख और प्यास की तरह 'सेक्सुअल अर्ज' को प्राकृतिक एवम् शारीरिक आवश्यकता मानती है। जिसे उसके मत के अनुसार पूरा करना ही चाहिए। उसके सामने पाश्चात्य देशों का आदर्श है जहाँ विवाह पूर्व जब तक दो–चार से प्रेम नहीं होता है तब तक शादी नहीं होती है। यहीं अरविंद शंकर की लड़की नन्हीं विवाह पूर्व मुसलमान युवक से प्रेम, यौन संबंध एवं तज्जन्य 'अवैध मातृत्व' प्राप्त कर लेती है। ''पुरानी पीढ़ी का प्रतीक अरविंद शंकर विवशता से इस प्रेम को तो स्वीकार कर सकता है, किन्तु विवाह से पूर्व मातृत्व स्वीकार नहीं कर सकता। इस स्थिति को भी वह स्वीकार कर लेता पर मुस्लमान प्रेमी तो भाग गया अब अवैध बालक का उत्तरदायित्व कौन ले? अतः गर्भपात कराया जाता है।''[11]

अमृतलाल नागर कृत 'अमृत और विष' में मध्यमवर्गीय सुशिक्षित मिसेज माथुर बताती हैं: ''औरत और मर्द का मिलना एक शारीरिक जरुरत है। भूख की तरह सेक्सुअल अर्ज (कामेच्छा) भी एक कुदरती और शारीरिक जरुरत है और उसे पूरा ही करना चाहिए।''[12] इसी उपन्यास के अन्य पात्र मिसेज बोस और पुरी हितानी भी काम–वासना सम्बन्धी अतृप्ति के कारण अनैतिक सम्बन्धों में रचे–पचे रहते हैं। 'अमृत और विष' में मध्यमवर्गीय समाज में प्रवर्तमान नवीन नैतिक प्रतिमानों की चर्चा है: ''ये पुरानी जातियाँ, धर्म और कबीले यह सब अब बकवास की बाते हैं, जो इमानदारी से देखने पर आज की नई चेतनावाली दुनिया में ठीक तरह से जुड़ नहीं पातीं।''[13]

''ऋतुचक्र'' उपन्यास के दादा यह मानते हैं कि स्त्री–पुरुष का शारीरिक मिलन प्रतिदिन के जीवन की ठोस वास्तविकता है। उसकी न तो अवज्ञा ही की जा सकती है, न निराकरण। इसलिए पचपन वर्षीय दादा में और पैंतालीश वर्षीय प्रतिभा में प्रेम और यौन संबंध होता है। दोनों ही अविवाहित हैं। अवैध गर्भ के सम्बन्ध में दादा का विचार है कि ''पुरुष द्वारा धोखे से फुसलाकर किया जाने वाला यौन सम्पर्क और तज्जन्य गर्भ का गर्भपात होना ही चाहिए, अन्यथा नारी अकेली उसका भार कैसे वहन करेगी?''[14] इस प्रकार मध्यमवर्गीय वर्तमान समाज में शिक्षित वर्ग में अवैध गर्भ को बीमारी के रूप में स्वीकार किया जाता है जिसका उपचार होना ही चाहिए।

'मछली मरी हुई' उपन्यास के अंतर्गत मध्यमवर्गीय समाज में व्याप्त समलैंगिक यौनाचार का आलेखन है। ''न केवल उनका लेखन बल्कि वैयक्तिक जीवन तक नई पीढ़ी की चाय की मेजों पर चर्चित होता रहा है।''[15] डॉ. राजेन्द्र प्रताप अपनी आलोचनात्मक ग्रंथ में लिखते हैं: ''परिवर्तित आर्थिक परिवेश से उपजे मध्यमवर्ग की कौटुंबिक एवं सामाजिक मर्यादा, आर्थिक स्वावलम्बन के सन्दर्भ में नर–नारी सम्बन्धों, अर्थाभाव के कारण व्यक्ति की अतृप्त आकांक्षाओं, पूँजीवाद के निरंतर शोषण, यन्त्रीकरण से उत्पन्न मानवीय असहायता ने सामाजिक जटिलताओं को जन्म दिया है। इन्हीं विषमताओं को आर्थिक परिप्रेक्ष्य में ग्रहण करते हुए उपन्यासकारों ने नैतिकता के सामाजिक मान निर्धारित किये हैं।''[16]

'मछली मरी हुई' की शीरीं पति नहीं चाहती है। वह बड़ी बहन का बिस्तरा चाहती है। बडी बहन की बाँह पर सिर रखकर सोने में उसे सुख मिलता है, क्योंकि वह समलैगिक यौनाचार से पीड़ित है। ''एक दिन बड़ी बहन ने बियर से भरे गिलास के साथ समझाया कि दो औरतें भी परस्पर शारीरिक जीवन बिता सकती हैं। बड़ी बहन ने तरीका बताया। अपने बताये तरीके पर आगे बढ़ती गई। शीरीं आश्चर्यचकित थी। वह बेहद उत्तेजित थी। बहन जो करना चाहती थी, करने देती थी। तनिक भी इन्कार नहीं, जरा भी ऐतराज नहीं। कोई पुरुष शीरीं को इतनी शीतलता, इतनी शीतल उत्तेजना, इतनी उत्तेजक शारीरिक वेदना नहीं दे सकता था।''[17]

शीरीं पति की नपुंसकता के कारण अतृप्त यौनावस्था में हस्तक्रिया की ओर प्रेरित होती है। ''शीरीं ने अपनी भरी हुई दोनों जंघायें देखीं। बड़े प्यार से उन पर उँगलियाँ फेरने लगी।''[18] इस प्रकार उपर्युक्त उदाहरणों के माध्यम से हम देख सकते हैं कि मध्यमवर्गीय समाज में सेक्स सम्बन्धी जो मान्यताएँ हैं, वह बदलने लगी हैं।

नारी स्वातंत्र्य एवं नारी शिक्षा के प्रभाव के कारण मध्यमवर्गीय समाज में विवाह से परंपरागत मान्यताओं में बहुत कुछ मूलतः परिवर्तन कर दिया है। विवाहित जीवन में तलाक के प्रवेश से भी परम्परागत वैवाहिक प्रतिमानों को आघात पहुँचा है जिसके परिणामस्वरूप प्रेम–विवाह, अन्तर्जातीय विवाह, सिविल मैरेज एवं विलंबित विवाह के नवीन नैतिक प्रतिमान विकसित हुए हैं। 'डाक बंगला' की इरा कहती है : ''शादी से आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है। अगर आत्मिक मिलन की बात होती तो शादियाँ करने की उम्र पचास के बाद होती। यह महज एक शारीरिक आवश्यकता है जिसे आदर्श का ताज पहनाकर गरिमा प्रदान की गई है।''[19] 'अन्धेरे बन्द कमरे' के विवाह–पूर्व प्रेम एवं प्रेम विवाह में भी इसी धारणा को विकसित मूल्य के रूप में चित्रित किया गया है।

आज के परिवर्तित युग में मध्यमवर्गीय समाज में परंपरागत मानवीय सम्बन्ध और भावनाओं में अंतर देखने को मिलता है। उनके लिए मूल्यों के अन्तर्विरोधों का युग है, जिसमें हम नवीन मूल्यों के प्रति सहज आकर्षण एवं परम्परागत मूल्यों के प्रति मोह की भावना देखने को मिलती है। आज आधुनिक मध्यमवर्गीय नारी अबला, देवीत्व और सतीत्व के कटघरे से मुक्त है। आज नर और नारी सबसे पहले अपने को व्यक्ति समझते हैं। सम्बन्धों की इसी नवीनता का निरुपण मध्यमवर्ग में हुआ है। सम्बन्धों की नवीनता को इसी वर्ग ने स्वीकार किया है। समाज स्वीकृत पति–पत्नी के पारस्परिक सम्बन्धों में परंपरागत स्वरूप और उसमें परिवर्तन की स्थिति में दोनों का वर्णन साठोत्तरी उपन्यासों में हुआ है।

'शहर में घूमता आईना' में भी यही परंपरागत स्वरूप मिलता है। यहाँ पति चेतन अपनी पत्नी की अपेक्षा अधिक सुन्दर साली की ओर लालायित होता है। किन्तु साली का विवाह हो जाता है और वह पुनः पत्नी के सानिध्य में चला जाता है।

'यह पथबन्धु था' उपन्यास के अन्तर्गत मध्यमवर्गीय श्रीधर आधुनिक विचारों में प्रभावित है और उसकी पत्नी सरस्वती निष्ठावान पति के चरणों में समर्पित परंपरागत स्त्री है। पच्चीस वर्ष तक पति की अनुपस्थिति में सुख–दुःख को सहन करती है और पति के पुनरागमन पर वह टूट जाती है। इस घटना को देखकर ऐसा लगता है कि मानो वह टूटने से पूर्व पति का ही इन्तजार कर रही थी। यह सम्बन्ध परंपरागत भारतीय पत्नीत्व के मूल्य की अभिव्यक्ति करता है।

'अंधेरे बन्द कमरे' की नीलिमा मध्यमवर्गीय युवती की तरह महत्वाकांक्षी है। वह पति की वासना

संतोष का साधन नहीं बनना चाहती। इस वजह से वह घर छोड़कर चली जाती है। वह कहती है ''पति–पत्नी बीच जो चीज होती है, जो चीज होनी चाहिए, वह हममें अब कब की समाप्त हो चुकी है, और अगर मैं ठीक से कहूँ तो वह चीज कभी थी ही नहीं। अब तो मैं सोचती हूँ कि उस चीज को लाने की कोशिश करना ही बेकार है ।''[2]

हरबंस और नीलिमा दोनों एक–दूसरे से स्वतंत्रता की तीव्र इच्छा करते हैं और वह भी यौनत्व में। हरबंस मध्यमवर्गीय पुरुष की तरह अपनी पत्नी पर अधिकार भावना रखना चाहता है, जबकि नीलिमा मध्यमवर्गीय महत्वाकांक्षी युवती की तरह स्वतंत्रता चाहती है। हरबंस नीलिमा को गृहिणी के रूप में देखना चाहता है, उसका उलटा नीलिमा अपने व्यक्तित्व को निखारना चाहती है। ''मैं इस रास्ते पर इतना बढ़ आयी हूँ कि अब मैं लौटकर उसकी गृहस्थिन नहीं बन सकती जैसे कि तुम देखना चाहते हो।... मैं केवल खा–पीकर और घूमकर सन्तुष्ट नहीं हो सकती। मैं अपने लिए इसके अलावा भी कुछ चाहती हूँ।''[21]

'मछली मरी हुई' में शिरीं मिस्टर महेता को छोड़कर निर्मल पदमावत के पास चली जाती है। ''अभी अगर रोशनी की हल्की सी भी किरण बाकी है तो वह जी लो।''[22] यहाँ पर आधुनिक स्त्री–पुरुष में बढ़ती हुई यौन–समस्या ही दिखाई देती है। प्रिया नवीन मूल्यों के समर्थन में शिरीं का पक्ष लेती हुई निर्मल से कहती है: ''एक औरत की जिन्दगी का सवाल है, आप उसे संतान नहीं दे सकते तो उसके पास क्यों जाते हैं?''[23]

कृष्णा सोबती कृत 'मित्रो मरजानी' की स्त्री पात्रज्ञ यौन तृप्ति के सामने नैतिकता को कुछ नहीं मानती। वह कहती है: 'मेरी इस देह में इतनी प्यास है, इ तनी प्यास की मछली–सी तड़पती हूँ।''[24] इस प्रकार मध्यमवर्गीय समाज में प्रसारित भौतिकवादी दृष्टिकोण के कारण नैतिकता के परंपरागत नियम खण्डित होते हुए दृष्टिगोचर होते हैं।

'पत्थरों का शहर' में मध्यवर्गीय युवक पात्र तरुण आधुनिकता का परिचायक है। वह संपत्ति की समृद्धि के लिए 'शोर्टकट' रास्ता अपनाता है और तस्करी के मामले में अंत में पुलिस के हाथ में पहुँच जाता है। नवल बाबू की पुत्री इति घर और देश छोड़कर हिप्पी प्रेमी के साथ भाग जाने को तत्पर है। पिता के विरोध में वह प्रतिविरोध दर्शाते हुए कहती है: ''आप इस बोध से कट चुके हैं, लेकिन सच्चाई यही है। ... हम बहुत कुछ खण्डित करते जाते हैं, तो बहुत कुछ बनाते भी जाते हैं। वही हमारे चारों तरफ घिरे संकट से मुक्ति पाने का एकमात्र विकल्प है। यह संकट आज का है, हमारा अपना निजी दस्तावेज है।''[25]

गिरिराज किशोर के उपन्यास 'चिड़ियाघर' में मिसेज रिज़वी का नैतिकता सम्बन्धी नया दृष्टिकोण है। वह नारी को लेकर वर्तमान व्यवस्था में आमूल परिवर्तन चाहती हैं। वह कहती हैः 'क्यों जौहरी नगर में एक एक्सपेरीमेन्ट करुं। चार शोहर रखुँ, जिनमें से एक होम देखे, दूसरा फोरेन रिलेशन्स की देख–रेख रखे, तीसरा प्रॉक्टीकल का ख्याल रखे, चौथा इण्टरनेट करे। तुम्हारा क्या ख्याल है?''[26]

भगवतीप्रसाद वाजपेयी की कृति 'एक स्तर आँसू का' में गोमती में नैतिकता संबंधी विचार युग के अनुसार हैं। गोमती की पुत्री आरती और होनेवाला जामाता अरुण सिनेमा थियेटर में अकस्मात मिल जाते हैं। गोमती के भैया को यह बात सामाजिक परंपरा के विरुद्ध लगती है। किन्तु गोमती कहती हैः ''ऐसी कोई बात अगर हो भी तो उसमें चिंता की कोई बात नहीं जान पड़ती। और युग धर्म की ओर दृष्टि डालें तो यह सहज और स्वाभाविक है।''[27]

''निम्न मध्यमवर्गीय व्यक्ति की निराशा, घुटन और कटुता में साहस, कर्मण्यता एवं दृढ़ता को स्थापित करने के प्रयास में ''[28] 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' का मालिक मुल्ला सामाजिक व्यवस्था की अनैतिकता से उसका विरोध दर्शाता है ''पर कोई न कोई ऐसी चीज़ है, जिसने हमें हमेशा अंधेरा चीरकर आगे बदलने और मानवता के सहज मूल्यों को पुनः स्थापित करने की प्रेरणा और ताकत दी है, चाहे उसे आत्मा कह लो, चाहे कुछ और। विश्वास, साहस, सत्य के प्रति निष्ठा उस प्रकाशवादी आत्मा को उसी तरह आगे ले चलते हैं, जैसे सात घोड़े सूर्य को आगे बढ़ा ले चलते हैं।''[29]

मध्यमवर्गीय समाज में नवीनता के आकर्षण में पाश्चात्य नैतिक मूल्यों को नवीन प्रणाली के रूप में अपनाते हैं। इसके साथ–साथ धर्म, रस्मो–रिवाज, मान्यताएँ, आस्था, सभी धीरे–धीरे खत्म हो रही है। धर्म सम्प्रदाय, जीवन से सम्बन्धित जो भी परंपरागत मान्यताएँ प्रचलित हैं, सब अब नष्ट होने लगी हैं। मन्त्र–तन्त्र, जादू–टोना, सामाजिक–धार्मिक, शकुन और नजर विषयक मान्यताएँ धीरे–धीरे विज्ञान–प्रचार के कारण हट गई। मध्यमवर्गीय शिक्षित समाज इससे बहुत आगे निकल चुका है।

अमृतलाल नागर कृत 'अमृत और विष' उपन्यास के अंतर्गत मध्यमवर्गीय समाज की नवीन नैतिकता की व्याख्या की है। जो व्यक्ति और समाज दोनों पर प्रत्यारोपण करती हुई आकांक्षाओं को प्रकट करती है। ''नैतिकता इस बात में नहीं कि आदमी कितना सच्चा, त्यागी, तपस्वी और प्रमाणिक है। प्रश्न ह है कि व्यक्ति को अपनी इच्छाओं, आकांक्षाओं और आचार–व्यवहार को गति देने में मुक्ति कितनी मिली है। प्रामाणिकता का आग्रह झूठा और बेकार है।''[30]

मध्यमवर्गीय आधुनिक समाज में व्यक्ति के कथनी और करनी में काफी अंतर देखने को मिलता है। नैतिकता तो उनके लिए समाज के सामने केवल दिखावा मात्र है। 'राग–दरबारी' का गयादीन नैतिकता को स्पष्ट करता हुआ कहता है कि ''नैतिकता समझ लो कि यही चौकी है। एख कोने में पड़ी है। सभा सोसायटी के वक्त इस पर चादर बिछा दी जाती है। तब बड़ी बढ़िया दिखाई देती है। इस पर चढ़कर लेक्चर फटकार दिया जाता है। यह उसी के लिए है।''[31]

'मनुष्य के रूप' की सीमा तथा 'झूठा सच' की उर्मिला विधवा जीवन की पुरातन धारणाओं की उपेक्षा करती हैं। अन्तः वह आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर होकर निजी जीवन को सफल बनाती हैं। उदयशंकर भट्ट के 'सागर, लहरें और मनुष्य', भैरवप्रसाद गुप्त के 'गंगा मैया', इलाचन्द्र जोशी के 'जहाज का पंछी', राही मासुम रज़ा के 'आधा गाँव', श्रीलाल शुक्ल के 'राग–दरबारी' इत्यादि उपन्यासों में मध्यमवर्ग के बदलते नैतिक, सामाजिक प्रतिमानों को अभिव्यक्ति मिली है। निर्वासन की समस्या भी नैतिक मूल्यों की देन है। डॉ. राजमल बोरा ने अपने आलोच्य हिन्दी ग्रंथ 'हिन्दी उपन्यास : प्रयोग के चरण' के अंतर्गत लिखा है: ''मूल्यों की विसंगति में जब व्यक्ति यह अनुभव करने लगता है कि उसके मूल्यों को (निजी मूल्यों को) समाज में कोई आदर नहीं होता, साथ ही जब वह अनुभव करता है कि सामाजिक और राजनीतिक जीवन में अराजकता व्याप्त है या जब व्यक्ति अपने अस्तित्व की रक्षा नहीं कर पाता है, तो ऐसी स्थिति में अलगाव की समस्या से जूझता है।''[32]

''नैतिकता के आधार पर मध्यमवर्ग के दो वर्ग हो जाते हैं। एक मध्यमवर्ग का वह वर्ग है जो अपने नैतिक आदर्शो की रक्षा के लिए आर्थिक संघर्ष झेलता हुआ विपन्नता की जिंदगी गुजारता है और दूसरा वर्ग इस तथाकथित मध्यमवर्गीय नैतिकता का खोखला जामा उतारकर ऊपर उठ जाता है।''[33]

मध्यमवर्ग नैतिकता के बल पर अपनी विशिष्ट स्थिति रखता है क्योंकि वह उच्च वर्ग और निम्नवर्ग के बीच कड़ी का काम करता है। मध्यमवर्ग बदलती नैतिकता की आड़ में महत्वाकांक्षी होता चला है।

'' 'गिरती दीवारें' उस निम्न मध्यमवर्ग के समाज का यथार्थ बिम्ब प्रस्तुत करती है, जिसमें परम्परा से चली आती जंर्जर रुढ़ियाँ, शोषण तथा उन बेमतलब के विचारों को प्रकट किया गया है, जिनके श्राप से नये विचार तथा नयी रोशनी में पले नवयुवकों को अपनी सारी आकांक्षाओं की जीते जी हत्या करनी पड़ती है।''[34]

मध्यमवर्गीय समाज में दाम्पत्य सम्बंधी नैतिक मान्यताएँ टूटने लगी हैं। सम्बन्धों में एकनिष्ठा की आशा अनुचित लगती है। पत्नी–पति को एक–दूसरे के आचरण के प्रति मौन रखना चाहिए। मूल्यों के बदलते ही दोनों अलग–अलग व्यक्ति के रूप में पहचाने जाने लगे हैं। मध्यमवर्गीय समाज में अनाचार, स्वेच्छाचार आदि को नये नैतिक मूल्य के रूप में स्वीकारा गया है।

मानवीय मूल्यों की स्थापना मध्यमवर्ग में ज्यादा देखने को मिलती है। 'सामंर्थ्य और सीमा' का एलबर्ट किशन मानवतावादी है। ''मैं न हिन्दू हूँ, न मुसलमान हूँ, न ईसाई। मजहब जहालत की उपज है। मैं सिर्फ इंसान हूँ और इंसानियत का कायल हूँ.... मेरी भी अपनी निजी हस्ती है।''[35]

मध्यमवर्गीय समाज में आर्थिक विपन्नता के कारण वात्सल्य का भाव बिलकुल कुंठित हो गया है। नवीन नैतिक मूल्य के रूप में परिवार में अधिक शिशुओं का जन्म बोझ रूप माना जाता है। 'हम दो हमारे दो' नई नैतिकता का नारा है। मध्यमवर्गी? समाज में पति–पत्नी के लग्न–विच्छेद को, तलाक को भी आज के नवीन नैतिक मूल्यों में स्वीकृति मिल चूकी है।

वर्तमान भारतीय मध्यमवर्ग आर्थिक विपन्नताओं से घिरकर केवल स्वकेन्द्रिय बन गया है। फलस्वरूप प्रेम, करूणा, दया, सेवा जैसे भावात्मक मूल्यों में दिखावा आ गया है। कृत्रिमता व्याप्त हो गई है। मध्यमवर्ग में प्रायः पाप और पुण्य की व्याख्याएँ बदल चुकी हैं। उसका निर्णय अब धर्म के आधार पर नहीं, बल्कि सामाजिक दृष्टि से होने लगा है। मध्यमवर्गीय समाज में आधुनिकता के नाम पर नये नैतिक मूल्य अपनाये जा रहे हैं।

विवेच्य गुजराती उपन्यासों में मध्यमवर्गीय नैतिकताः

'नैतिकता' शब्द 'नीति' शब्द से ही निर्मित हुआ है। संस्कृत में उसे 'णीय' धातु से व्युत्पन्न बताया गया है जिसका अर्थ 'ले जाना' या 'पथ–प्रदर्शन' के संदर्भ में प्रयुक्त होता है। इस प्रकार यह अपना व्यापक अर्थ बताता है – कला, विज्ञान, वाणिज्य आदि सभी विषय 'नीति' के अंतर्गत अभिव्यक्त मान लिए जाते हैं। क्योंकि 'नीति' मनुष्य को किसी न किसी दिशा में आगे ले जाने का नाम है।

भारत में मध्यमवर्गीय समाज व्यवस्था के अंतर्गत 'नैतिकता' शब्द में, समाज की बनी हुई वे

मान्यताएँ और मर्यादाएँ हैं, जो पीढ़ी दर पीढ़ी विकसित होती रहती हैं और विकास के दौरान कुछ परिवर्तन भी पा जाती हैं।

गाँधीजी का कहना था: ''भारत आज़ाद होने के बाद ही नैतिकता की कसौटी होगी। जब सब हमारा है, तब हमारे लोगों के न्याय–अन्याय का विचार होता है। उस समय जातिवाद, धर्मवाद, प्रांतवाद विकास में बाधक न बने तब उसका ख्याल रखना हर नागरिक की जिम्मेदारी है।''[1]

इस प्रकार 'नैतिकता' शब्द हर व्यक्ति के जीवन मूल्य से जुड़ गया है और इसे जातिवाद, धर्मवाद और प्रांतवाद का विरोधी माना गया। नैतिकता मानव जीवन की अच्छाइयों का संदर्भ प्रस्तुत करती है। अतः इसे धर्म से जोड़कर 'नैतिक धर्म' मान लिया गया। मध्यमवर्गीय परिवारों की नैतिक–परम्परा अपनी पहचान रही है, वहाँ बड़े–बुजुर्गों का सम्मान, चरण–स्पर्श, उनकी बात मानना या उनकी सेवा करना जैसे कार्य मानव–जीवन के नैतिक मूल्य के रूप में आलेखित हुए। समाज और जाति में विवाह करना, दाम्पत्य–जीवन की प्रसन्नता और मिलकर रहने की भावना नैतिक धर्म बना। दूसरों की मदद करना, झूठ न बोलना, प्राणी–मात्र से प्रेम करना, दया, क्षमा, स्वाभिमान, मनुष्य जीवन के आचार–व्यवहार ये सभी बातें नैतिक जीवन के मापदण्ड हुए। मध्यमवर्गीय जीवन व्यवस्था में नारी का सम्मान, कार्य और कथन की प्रामाणिकता नैतिक जीवन का आयाम माना गया। इस प्रकार कथन–करनी की एकरूपता, सभी का आदर मध्यमवर्गीय सोच की परम्परा से जुड़ा नैतिक मूल्य माना गया।

परंतु प्रश्न तब उठा जब स्वयं में परम्परित नैतिक प्रतिमान समय और सभ्यता के विकास के साथ बदलने लगे। गुजराती समाज में बढ़ती औद्योगिक क्रांति और विकास के तहत मानव जीवन अपने सुखों और विचारों के अनुरुप बदलने लगा। भौतिक उन्नति की दौड़ में वह अपना स्वार्थ सोचने लगा। अत्यधिक स्वतंत्रता और स्वच्छंदता का वर्णन साठोत्तरी गुजराती उपन्यासों में सर्वाधिक रूप से उभरा। समानाधिकार, स्वच्छंदता, नर–नारी संबंध आदि भावनाओं पर पाश्चात्य संस्कृति का प्रभुत्व छाने लगा। इन जटिलताओं के कारण मानव जीवन में दमन, शोषण और अत्याचार, हिंसा आदि का वर्चस्व हुआ। नैतिकता के ह्रास के कारण मानव जीवन की पहचान का संकट उपस्थित हुआ। इससे पारिवारिक संस्कार, घर का निजी माहौल, सुदृढ़ चरित्र सभी डगमगा गए। आदर्श, बलिदान, तप–त्याग की भावना, सेवा, सहिषणुता, सद्भाव जैसी नैतिक प्रवाह की बातें स्वप्न बनती गई। आज मानव मूल्यों के प्रति संकट की छाया गंभीर है। आखिर इसका कारण क्या है?

मासिक पत्रिका 'अखण्ड ज्योति' में पं. श्रीराम शर्मा आचार्य लिखते हैंः ''भारत देश ने कभी किसी युग में विश्व परिवार का, मानवीय संबंधों के सुखदसंसार का सपना देखा था। यहाँ के मनीषियों ने 'वसुधैव कुटुंबकम्' के सूत्र का प्रवर्तन किया था, लेकिन यह बीते युग की बात है। आज के युग का सच तो कॉरपोरेट कल्चर का है जिसने विश्व परिवार के सपने को विश्व–बाजार की हकीकत में बदल दिया है।''[37]

और सचमुच हम पाते हैं कि गुजरात प्रदेश विश्व बाजार की दौड़ में लगातार वृद्धि पाते हुए आगे बढ़ रहा है। आर्थिक प्रगति की दृष्टि से यह एक अच्छी बात है कि सर्वाधिक प्रवासी भारतीय 'गुजरात' के हैं। परन्तु साथ ही साथ स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद की कृतियों में हमें मानव की निराशा, हताशा, अनास्था, विद्रुपता, विक्षिप्तता की प्रतीती अधिक मिलती है। साठोत्तरी गुजराती उपन्यासों में भ्रष्टाचार, मूल्यहीनता, कुचक्र, षडयंत्र, आर्थिक वैषम्य, सामाजिक समस्याएँ जैसे बेमेल विवाह, यौन कुंठाएँ, असफल प्रेम विवाह, तलाक, वैधव्य, भूख, बेकारी आदि बातें अधिक ही दिखाई देती हैं। नारी की स्वतंत्रता आदि और भोगपरक स्थिति का चित्रण, कामातुरता, साठोत्तरी साहित्य के गुजराती उपन्यासों में सर्वाधिक है। उसमें ओढ़ी हुई मानसिकता, जीवन से पलायन, अकेलापन, आत्मरति आदि भावों की सर्वोपरिता मिलती है। खासकर मध्यमवर्गीय परिवारों की स्थितियाँ ही ज्यादातर बिखरी या परिवर्तित हुई। उसमें ही सबसे ज्यादा यौन स्वच्छंदता का स्वरूप वृद्धि करता है। इसे शिक्षा का बदला हुआ या विकसित सोच का कारण भी माना जा सकता है कि यहाँ के युवक–युवती भारत के अन्य राज्यों की अपेक्षा अधिक स्वच्छंद हैं या परम्परित रूप में 'गरबा' आदि नृत्यों में युवक–युवतियों की स्वच्छंद अठखेलियाँ भी कुछ बिन्दु तक कारणभूत हो सकती हैं। 'किंबल रेवन्वूड' का नायक 'योगेश' अपने समाज के अनैतिक तत्वों को फटकारता है। क्योंकि वह विदेश से भारत आकर देखता है कि यहाँ जातिवाद, अस्पृश्यता, दहेज आदि कुरीतियाँ समाज को दूषित कर रही हैं। 'योगेश टूंकमां ज्ञातिप्रथा, अस्पृश्यता, दहेजनी कुप्रथा वगेरेने बराबर चाबखा मार्या, समाजमां प्रवर्तता दंभनो पर्दाफाश कर्यो, सौनो आभार मान्यो।''[38]

(योगेश ने कुछ ही देर में जातिप्रथा, अस्पृश्यता, दहेज की कुप्रथा आदि को फटकारा, समाज में फैले दंभ का पर्दाफाश किया। सबका आभार माना।)

नायक योगेश 'दहेज विरोधी' लम्बा भाषण भी देता है। वह गुजरात आकर देखता है कि अब यह पहले जैसा गुजरात नहीं रहा। कन्या पसंदगी के दौरान उसे कई नए–नए तजुर्बे होते हैं। लड़कियाँ भी उससे

स्वच्छंद व्यवहार इसलिए करती हैं ताकि उन्हें 'ग्रीनकार्ड' मिल सके। अनैतिकता की हद तो तब हो जाती है जब वे मुक्त मन से स्वच्छंद यौनाचार की बातें करती हैं। युवक–युवतियाँ ही नहीं, यहाँ तक पिता के साथ भी लड़के लड़कियों का स्वच्छंद व्यवहार मिलता है। योगेश विशाखा को देखने आता है तब बातचीत के दौरान विशाखा अपने पिता की उस अनैतिक सलाह का जिक्र भी करती है जो उसके पिता ने बेहिचक उसे कही थी: ''मारे मारा फादर जोड़े बहु फ्रेन्डली डिस्कशन थाय, फादरनी सलाह कहुँ?

शुं?

फादर कहे छे के विशाखा, छोकरो जुए त्यारे बीजुं बधुं पछी, सौथी पहेलां कपड़ां वगर छोकरो केवो लागे छे अे विचारी जोजे।''[39]

(मेरे साथ मेरे फादर बहुत फ्रेन्डली डिस्कशन करते हैं। फादर की सलाह कहूँ?

क्या?

फादर कहते हैं कि विशाखा, लड़का देखो तब दूसरी सब बातें बाद में, सबसे पहले यह सोचना कि बिना कपड़ों के लड़का कैसा लगता है।'')

अनैतिकता की हद तो तब और भी हो जाती है जब उपन्यास में नायक योगेश दूध लेने के लिए अपनी भतीजी के साथ जाता है जब एक गोरी लड़की को देखकर ठिठक जाता है तब सात वर्ष की भतीजी योगेश अंकल से कहती है: ''अे छोकरी ब्रांड न्यू नथी योगेश अंकल।''

(यह लड़की ब्रांड न्यू नहीं है, योगेश अंकल।)

उपरोक्त उपन्यास में इस प्रकार हम देखते हैं कि बातों में एक प्रकार का खुलासा बढ़ता ही गया है जिससे मानवीय संबंधों की गरिमा का नैतिक स्तर गिरता हुआ प्रतीत होता है।

'जातिवाद' की भावना से भी समाज का नैतिक पतन हुआ है। योगेश को कन्या पसंदगी के दौरान भावना नामक लड़की की मुलाकात याद रह जाती है क्योंकि वह अपने देश, मूल्य, संस्कृति, जाति, धर्म सभी के प्रति पूर्ण आस्था रखती है। उसके सहेजे नैतिक–मूल्यों से योगेश अवश्य प्रभावित होता है। कहती है:

''जे जगतमां लाचारीना लोहीना बाटलाओमांथी धनिकोनां विटामीन बने छे अने व्यापारिओ लालचना मार्या बेबीफूडमां लाकड़ानो वहेर भेळवे छे, दलालो परदेशमां कूटणखानाओ माटे फूटती जुवानीवाळी छोकरीओनी हजारोनी संख्यामां निकास करे छे, अे जमानामां मारुं, मारा विचारोनुं, मारी आस्थानुं क्यांय स्थान नथी। कारण के मारा तुलसीना छोड़ माटे मने मारी बहेन होय अेटली ममता छे, मारी गाय माटे मने मारी मा होय अेटली ममता छे, अने मारा देश माटे पण।''[1]

(जिस संसार में विवश–लाचार लोगों के खून की बोतलों से धनिकों का विटामीन बनता है और व्यापारी लोग लोभवश बच्चों के फूड में लकड़ी के चूरे की मिलावट करते हैं, दलाल परदेश के वेश्यालयों के लिए हसीन जवान लड़कियों को हजारों की संख्या में निकास करते हैं, उस जमाने के लिए मेरी, मेरे विचारों की, मेरी आस्था के लिए कोई स्थान नहीं, क्योंकि मेरे लिए तुलसी के वृक्ष के लिए मेरी बहन समान ममता है, मेरी गाय के प्रति माँ जितनी ममता है और मेरे देश के लिए भी।)

यहाँ भावना के उपरोक्त कथन में स्पष्टतः मानव मनों में नैतिक गिरावट के कारण आई उन बदली हुई कार्यगत स्थितियों का वर्णन चित्रित है, जिसमें हमें जीवन के यथार्थ का, व्यवहार का ज्ञान मिल जाता है। आज गरीब अपना खून अमीरों के लिए देकर, व्यापारी मिलाव करके और दलाल लड़कियों को बेचने से नहीं कतराते। यही मानव विकास है? स्वयं अहमदाबाद की बदली संस्कृति और नैतिकता योगेश के मित्र के शब्दों में देख सकते हैं। जब वह लड़की देखने जाने से पहले सलाह देता हैः

''अेक ना अेक ठेकाणे बहु न बेसवुं, फरवा जवुं, लॉ गार्डन छे, पिक्चर छे, ड्राइव इन थियेटर छे, कोई वार शोपिंग मां नीकळवुं.. जरा जाळवी ने सहेज छूटछाट लई लेवी... वांधो नहीं अे तो.. अहमदाबादमां बहु चेन्ज थई गयुं छे।''[1]

(एक ही जगह पर ज्यादा नहीं बैठना, घूमने जाना। लॉ गार्डन है, पिक्चर है, ड्राइव इन थियेटर है... कभी शोपिंग के लिए निकलना... अगर कोई तकलीफ न लगे तो, अहमदाबाद अब बहुत चेन्ज हो गया है।)

'आगन्तुक' उपन्यास में तो भाई ही भाई का नहीं रहता। 'ईशन को न अपने रोजगार में और न ही घर में रखने को तैयार ऐसे भाई आखिर किस काम के? ईशान की भीतरी कश्मकश इसीलिए है कि वह घर छोड़कर न तो संन्यासी हो पाता और संन्यास छोड़कर न ही घर–संसार में आ पाता है। क्योंकि अब घर घर नहीं रहा, भाइयों के मन का नैतिक पतन हो चुका था। वह सोचकर परेशान हैः ''सवारना पहोरमां थयेला भाई–भाभीना आक्रमणने लीधे अे थोड़ो विचलित थई गयो। अे लोको गई काले शुं बोल्या हता ते आजे याद राखवानी शी जरूर? प्रेमना आमंत्रणनो अस्वीकार करवानी शी जरुर? मनमां अेमना प्रत्ये थोड़ो विरोध जाग्यो छे.. कशोक अणगमो..)''[43]

(सुबह के पहर में हुए भाई–भाभी के आक्रमण को लेकर थोड़ा विचलित हो गया, ये लोग कल क्या बोले, उस आज याद रखने की क्या जरुरत? प्रेम के आमंत्रण को अस्वीकार करने की क्या जरुरत? मन में इनके प्रति विरोध जगा.. कुछ अनमना–सा।)

सचमुच, रूपये–पैसे, जमीन–जायदाद, नर–नारी कामलिप्सा आदि अनेक कारणों से नैतिक मूल्यहीनता की स्थिति समाज में उत्तरोत्तर बढती गई है। एक–एक व्यक्ति अनेक–अनेक साहचर्य संबंध में विश्वास करने लगा, क्या 'तन' ही जीवन है? यह प्रश्नचिन्ह नैतिकता की दृष्टि से बार–बार उठता है।

गुजरात कॉलेज में पढ़ता चन्द्र कहता हैः ''मननो एक खूणो कांईक अंशे टेक्सी स्टेण्ड जेवो छे, ज्यां कोई ने कोई छोकरीनी प्रतिमा पड़ी ज होय।''[44] (मन का एक कोना कुछ अंश में टैक्सी स्टैण्ड जैसा है, जहाँ किसी न किसी लड़की की प्रतिमा पड़ी ही रहती है।)

यही नहीं, चन्द्र अध्यापक के अनैतिक मूल्यों पर भी प्रहार करने से नहीं चूकता–

''अध्यापको पण आ रूपवतीनी मोहिनीथी अंजाया विना रही शकता नथी। नवा सवा युवान अध्यापको तो तेने ज उद्देशीने पोताना व्याख्यान आपता। ज्यारे जूना विद्यावृद्ध प्राध्यापको पण पोतानी पानखर भूली जई क्षणभर वसंतमां महाले छे।''[45] (अध्यापक भी इन रुपमतियों के आकर्षण से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। नए–नए जवान प्राध्यापक तो इसी उद्देश्य से अपना व्याख्यान देते, जबकि वृद्ध गुरुजन अपनी वृद्धावस्था के पतझड़ को भूलकर क्षणभर वसंत का आनंद ले लेते हैं।)

अर्थात् कामातुरता के परिवेश ने शिक्षण जगत को भी नहीं छोड़ा। सबसे ज्यादा नैतिक ह्रास यहीं से बढ़ा। 'कामिनी' स्वतंत्र–स्वच्छंद हास्य के साथ 'फ्लर्ट' स्वभाव की नायिका है। खेल ही खेल में संबंध मजाक और अनैतिक होकर रह जाते हैंः

''हा, सुखी छीओ। तुं तारा पतिने पीठ पाछळ अने हुं मारी बहेन अने पाठकनी पीठ पाछळ चोरी छुपीथी मळीये, अेक बीजा पासे चोर–पोलिसनी रमतनी जेम हीरा संताड़ता, लूंटता फरीअे अने जाहेरमां मळीए त्यारे आखो संबंध मजाक छे अेम खुलेआम फ्लर्ट करी बधांने हसावीअे, आपणे सुखी छीअे, वाह आपणे सुखी छीअे।''[46]

(हाँ, सुखी हैं। तू तेरे पति की पीठ के पीछे और मैं मेरी बहन और पाठक की पीठ के पीछे चोरीछिपे मिलें, एक–दूसरे के साथ चोर–पुलिस के खेल की तरह हीरा लूटने के लिए घूमें और सार्वजनिक तौर पर मिलते समय यह सारे संबंध मजाक लगे, इस तरह सभी फ्लर्ट करते हुए हँसाए, कि हम सुखी हैं। वाह, हम सुखी हैं।)

आखिर 'कामिनी' का यह स्वच्छंद मिजाजी स्वभाव उसे कहीं का नहीं छोड़ता, नैतिक पतन की हद तक सुन्दर द्वारा कामिनी का 'बलात्कार' होता है और उपन्यास का अंत कामिनी के अपराध–भाव की करुणता के साथ होता है।

'निशाचक्र' के नायक को अपने साहब के केबीन के आसपास इसलिए घूमना पडता है कि उसे उसकी पत्नी और साहब के साहचर्य संबंधों का पता लग जाता है, उसे लगता–

''रात पड्ये अहींना चोगानो विस्तार घन तमिष्त्रमां भळीने जाणे आवो नग्न स्त्रीदेह धारण करी लेतो होय अेम लागतुं हतुं ने चंपावृक्ष पर गंधनुं टोळुं गुंजतूं अेवी भ्रमणा जागती हती।''[47]

(रात होते ही चौगान के फैलाव के धन तमिष्त्र में (अंधेरे में) मिलकर ऐसा रूप धारण कर लेता मानो नग्न स्त्रीदेह धारण कर लिया हो, ऐसा लगता और चंपावृक्ष पर सुगंध का समूह भी ऐसा ही संदेह फैलाता।)

साहब के व्यवहार की अभद्रता को देखकर नायक अपनी पत्नी के प्रति चिल्ला उठता है–

''तने हुं खदेडी मूकीश, हरामजादी रांड।''[48]

(तुझे मैं निकाल दूँगा। हरामजादी रांड)

पति–पत्नी के बीच वाक्युद्ध जैसी स्थितियाँ, गाली–गलौच और मारपीट ने साठोत्तरी उपन्यासों में नैतिकता पर प्रश्नचिन्ह खड़े किए हैं।

'उर्ध्वमूळ' उपन्यास की मम्मी 'माया' को तो उसका पति अपनी अतृप्त कामवासना की वजह से मारता है। इसी प्रकार 'तिराड' उपन्यास का बलदेव पटेल कामावेश में कभी भाभी को तो कभी नायिका 'जोईती' को छेड़ने से बाज़ नहीं आता। जोईती कहती है:

''पोतानी नजर सामे ज बलदेवे तेनी भाभी रेवलीना गाले जोरथी चूंटी चोड़ी दीधी हती। ते वखते पण तेनी आँखों सापोलियाँ थईने जोईतीना वक्षस्थळ पर भमती हती। तूटी गयेलां बटनवाळा कबजामांथी लटकी रहेला स्तनने अडपलुं करवानुं बलदेव संध्याटाणे चूक्यो नहोतो।''[49]

(खुद की नजर के सामने बलदेव उसकी भाभी रेवली के गाल पर जोर से नोंच लेता, उस समय भी उसकी सर्पिली आँखें जोईती के वक्षस्थल पर घूमती होती। टूट गए बटनवाले ब्लाउज़ में से लटके स्तनों को छूने का साहस भी बलदे घिरती संध्या में नहीं टाल पाता।)

इस प्रकार नैतिक मूल्यों का हनन ही पात्रों के हाव–भाव और कार्यो द्वारा प्रकट हुआ है। साठोत्तरी मध्यमवर्गीय उपन्यास जैसे इन्हीं मूल्यहीन बातों से भरे पड़े हैं, जो कि समाज की दुर्दशा का सूचक है।

'छिन्नपत्र' की नायिका माला पुरुष मित्रों के साथ स्वच्छंद घूमती है, उसके चेहरे पर हर मित्र के साथस सम्मतिसूचक स्मित होता–

''होठ पर अेना होठनो आछो आर्द्रस्पर्श।''[50]

या अन्य रूप में माला–

''नदीना नीरनी जेम भेटीने घेरी वळे छे।''[51]

(नदी के पानी की तरह मिलकर घेर लेती है।)

इस प्रकार 'प्रेम' के बहाने शारीरिक आकर्षण ही नायक–नायिकाओं के व्यवहार और वाणी में प्रकट होता है। नायक अजय 'माला' से कहता है–

''में मारी बे हथेळी वच्चे तारुं मुख जकड़ी दीधुं, तारी आँखों हसी रही हती। चुम्बन माटे मारुं मुख झुक्युं, तारी लुच्ची आँखो मात्र सहेज हालीने ना कही पण मारा हाथनी पकडमांथी छुटवानो प्रयत्न कर्यो नहीं, में तारा काननी पासे मोढुं लावीने मात्र कह्युंः 'माला'.. तें मात्र कह्युंःहं''[52]

(मैंने मेरे दोनों हथेलियों के बीच तेरा मुख जकड़ लिया। तेरी आँखें हँस रही थीं। चुम्बन के लिए मेरा मुँह झुका। तेरी शैतान आँखें मात्र सहज हिलीं और ना बोली, पर मेरे हाथ की पकड़ से तूने छूटने का प्रयत्न नहीं किया, मैं तेरे कान के पास मुँह लाकर मात्र यही बोलाः 'माला' उसने मात्र यही कहा–हं–'')

नैतिक चारित्र्य पतन के ऐसे कई उदाहरण साठोत्तरी मध्यमवर्गीय गुजराती उपन्यासों में बिना ढूँढे मिल जाते हैं। राधेश्याम शर्मा के 'फेरो' उपन्यास में अनेक बार जातीय संकेत प्रस्तुत हुए हैं। या फिर 'निशाचक्र' उपन्यास के नायक की कामोत्तेजित प्रवृत्ति देखी जा सकती हैः

''शैयामां लेटी गयेली अे नारीना मुख पर हुं झुक्यो... बीजा ज क्षणे अे मारा बाहुपाशमां जकड़ाई... अेना हळवा बदन पर मलमलनुं झीणुं वस्त्र चिपकाई गयुं हतुं, अेथी मुखर थई उठेली अेनी चंपावर्णी नग्नता पर मारो दृष्टिपात रसळ्या करतो हतो।''[53]

(शैय्या पर लेटी हुई नारी के मुख पर मैं झूल गया... दूसरे ही क्षण वह मेरे बाहुपाश में जकड़ गई। उसके हल्के बदन पर मलमल का झीना वस्त्र चिपक गया था, इससे मुखर उठी उसकी चंपावर्णी नग्नता पर मेरी दृष्टि रसपान कर रही थी।'')

इसी प्रकार स्वच्छंद नायिका 'अमृता' अपने रुढ़िवादी परिवार को अपने स्त्री–पुरुष साहचर्य का उन्मुक्त विचार कहती हैः

''मने मानथी नहीं, जागृतिथी विचारपूर्वक जीववाथी संतोष छे। तमे विचार करता डरो छो। हुं जे निर्दोष स्त्री–पुरुष साहचर्यने सहज मानी शकुं छुं, तमारी कल्पनामां पण नहीं आवे। अे अंगे तमारी सघळी धारणाओ माराथी जुदी होय तेवी संभव छे। कारण के रुढ़ियो पासेथी अे तमे सहु अनायास शीख्यां हशो।''[54]

(मुझे अभिमान से नहीं, जागृत चेतना और विचारपूर्वक जीवन जीने में संतोष है। आप लोग विचार करते हुए डरते हो, मैं जो निर्दोष स्त्री–पुरुष साहचर्य में मानती हूँ, वह आपकी कल्पना में भी नहीं आ सकता। इस संदर्भ में आपकी सारी अवधारणाएँ मुझसे अगल हों, यह संभव है। कारण कि रुढ़ियों से आप सबने अनायास सीखा होगा।)

कई बार मध्यमवर्ग की रुढ़िग्रस्ततावाश विधवा का विवाह न होना या प्रेम विवाह के विरोध हेतु जाति को ही पकड़कर बैठजाने जैसे दुष्परिणामों का भी व्यक्ति को सामना करना पड़ता है। 'बत्रीस पुतळीनी वेदना' उपन्यास में बड़ी अम्मा की दुःखद स्थिति यही है कि वह बाल विधवा है। शास्त्री जी विधवा–विवाह का विरोध इसलिए करते हैं कि उसमे प्रेम की उदात्तता नहीं रहती। वे कहते हैं:

''विधवा स्त्री पुनर्लग्न करे ते मारी दृष्टिअे अेटला माटे योग्य नथी के तेमां प्रेमनी ऊँची भावनानो ह्रास थाय छे।''

इस प्रकार शास्त्रीजी 'विधवा विवाह' जो कि नारी जीवन की समस्या है और नैतिक रूप से उचित भी है, उसे भी वे नैतिक ह्रास का कारण मानते हैं। विशुद्धतावादी सोच के कारण इस प्रकार की कई तरह से समाज में नैतिक विकृतियाँ भी आई हैं जिन्हें आधुनिक पीढ़ी निश्चित तौर पर बदल रही है।

परंतु मध्यमवर्गीय आधुनिक जनजीवन में स्वच्छंद प्रवृत्तियाँ खतरनाक भी सिद्ध हुई हैं। गलत कार्यो में पैसा पानी की तरह बहाना कहाँ की समझदारी है? चन्द्रकांत बक्षी के उपन्यास 'जातककथा' के दोनों मित्र नायक आनंद और गौतम आधुनिक पीढ़ी के युवान हैं:

''सुख सलामतीनां मध्यमवर्गीय जीवनध्येय हांसल करवामां पारंगत अेवा व्यवहार चतुर, गुजरातीओनां समुदायमां सफेद कागड़ानी जेम जुदा तरी आवे तेवा खेलदिल खुशमिजाज निराडंबरी अने आखाबोला आनंद गौतम रेलवेनी क्लबमां शराब, जुगार के सुंदरीना सुंवाळा साहचर्यनी मोज माणवामां कशो संकोच अनुभवतां नथी।''[1]

(सुख–वैभव की निश्चिंतता के बीच मध्यमवर्ग के के जीवन–ध्येय को हासिल करने में पारंगत ऐसे व्यवहार चतुर गुजरातियों के समुह में सफेद कौअे की तरह अलग दिखाई दें, ऐसे खुशमिजाजी, जिंदादील,

पूर्णत आडम्बरहीन आनंद–गौतम रेल्वे की क्लब में शराब, जुआ या सुंदरी संग साहचर्य की मौज पाने में भी कुछ संकोच अनुभव नहीं करते।)

परंतु हम फिर भी साठोत्तरी गुजराती उपन्यासों में नैतिक मूल्यों को सहेजने की छटपटाहट बराबर पाते हैं। चाहे शास्त्रीजी हों (बत्रीस पुतळीनी वेदना), या बंगाली साधु (समुद्रांतिक) या 'आगंतुक' के ईशान बाबा, सभी ने नैतिक मूल्यों का आह्वान किया है।

समीक्षक बाबु दावलपुरा 'समुद्रांतिक' उपन्यास के बंगाली साधु के सत्कर्मों व जीवन मूल्यों की चर्चा करते हुए कहते हैं:

''वृक्ष वनराजी, पशुपंखी, आकाश अने अनंत महाराज सागर साथे अशब्द छानगपतियाँमां राचता अने दरियाई वावाझोडानी विनाशक दुर्घटना अंगे आगोतरी अगमचेती सावध करीने पंथकना मनेखने जानहानिथी उगारी लेता बंगाळी साधु पण हवे क्यां दर्शन थशे नहि।''[57]

(वन वृक्ष राशि, पशु–पक्षी, आकाश और अनंत सागर के साथ मौन–विचरते साहचर्य को रचते, समुद्री तुफान की विनाशक दुर्घटना के समय आगे से चेतावनी देकर राहगीरों को जानहानि से उबार लेनेवाले बंगाली साधु के दर्शन अब मुश्किल से ही समाज में देखने को मिले।)

पुरानी और आधुनिक पीढ़ी के मनुष्यों में नैतिक स्तर में बहुत अंतर आ गया है। यहाँ तक कि पति–पत्नी के संबंधों में भी। 'प्रियजन' उपन्यास में निकेत की पत्नी उमा पतिव्रता भारतीय जीवनमूल्यों को जीनेवाली महिला है। वह अपने बेटे राहुल से कहती भी है:

''जो राहुल... में आखी जिंदगी तारा पप्पाजीने जे गम्युं छे ते ज जीववानो प्रयत्न कर्यो छे। पति–पत्नी वच्चे प्रेमना विकास माटे केटलीक वस्तुओनी जरुर होय छे.. तुं तो जाणे छे के घरनी व्यवस्थाना कोईपण मामलामां अे वच्चे नथी पडता। मारा अभिप्रायो अेमने हमेशा मान्य रह्या पड़े छे।''[58]

(देख राहुल.. मैंने सारी जिंदगी तुम्हारा पप्पाजी को जो अच्छा लगा, उसी को जीने का प्रयत्न किया है। पति–पत्नी के बीच प्रेम के विकास के लिए कुछ चीजों की जरुरत होती है... तू तो जानता है घर की व्यवस्था के मामले में वे कभी बीच में नहीं पड़ते, मेरे अभिप्राय उन्हें हमेशा मान्य रखने ही पड़ते हैं।)

इस प्रकार वैवाहिक जीवन में पति–पत्नी के मध्य एक समझ, संतुलन से ही मानव–जीवन धन्य हो जाता है। 'प्रेम' मानव जीवन की मूल कड़ी है। यह उमा की तरह पुरानी पीढ़ी अच्छी तरह समझती है।

परंतु नयी पीढ़ी ने दाम्पत्य समझ को जैसे चकनाचूर कर डाला है, तन की लालसा या तन पर अत्याचार की पीड़ा नयी पीढ़ी की नारियाँ भला कैसे सह सकती हैं? पुरुष को भी आखिर अपने क्रोध पर काबू रखना होगा। दाम्पत्य जीवन का आधुनिक परिदृश्य में रेलगाड़ी में बच्चे के साथ जा रहे इन दम्पत्तियों को इस दृष्टि से देखा जा सकता है:

''ऊपरथी कर्कश अवाज आव्यो, 'अेने छानो राखो'। बाई आतंकितपणे बाळकने थापडवा लागी अने 'सूई जा हों..' अेवुं कहेवा लागी। पण बाळकने तो रडवुं ज हतुं, आखरे पुरुष उठ्यो अने बीड़ी चेतावी लीधी पछी बाळकने वढवा लाग्यो, 'मोढुं बंध कर, हमणां ने हमणां बंध कर नहीं तो आ दरियामां नाखी दईश।''[59]

(ऊपर से कठोर आवाज आई, 'इसे चुप रख'। औरत आसंकित होकर बालक को थपथपाने लगी, 'सो जा हं.' ऐसा कहने लगी, पर बालक को तो बस रोना ही थी। आखिर पुरुष उठा और बीड़ी जलाकर बालक की ओर बढ़ने लगा, 'मुँह बंद कर, अभी इसी वक्त, नहीं तो इस समुद्र में डाल दूँगा।)

पिता का पुत्र के प्रति कोई नैतिक दायित्व नहीं है यह बात उपरोक्त प्रसंग से जगजाहिर हो जाती है। 'मिश्र लोही' की नायिका अणिमा भी अपनी शिशु बेटी को दिल से नहीं अपना पाती, क्योंकि वह नीग्रो और काली हुई है, वर्णभेद के पूर्वाग्रह से मुक्त होने के बावजूद अणिमा की वात्सल्यहीन माता की भूमिका नैतिकता की दृष्टि से उपहासस्पद है। बाबु दावलपुरा इस संदर्भ की व्याख्या इस प्रकार करते हैं:

''अणिमानी दांपत्यजीवननी विफलता अने तज्जन्य मानसिक तंगदिलीना बेहद बोजने लक्षमां लईने तो ब्राकना आफ्रिकन पूर्वजो जेवाज अनुवंशिक लक्षणो धरावती अनवॉन्टेड पुत्री तरफनी अदम्य उपेक्षावृत्ति अक्षम्य नहि लागे।''[1]

(अणिमा की दाम्पत्य जीवन की असफलता और तज्जन्य मानसिक उलझन के बोझ को ध्यान में रखते हुए ब्राक के अफ्रीकन पूर्वज जैसे ही लक्षण रखनेवाली उसकी अनवॉन्टेड बेटी की ओर अदम्य उपेक्षा को क्षमा नहीं किया जा सकता?)

ये परिवर्तन नयी पीढ़ी के युवक–युवतियों में स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं, जो 'प्रेम' के रूपों (जैसे — वात्सल्य आदि) का सही आंकलन भी नहीं कर पाते।

वस्तुतः हम पाते हैं कि साठोत्तरी उपन्यासों में नैतिक मूल्यहीनता के यह प्रसंग इसीलिए चित्रित हैं ताकि अप्रत्यक्ष रूप से रचनाकार इनके दुष्परिणामों की ओर संकेत कर पाठक को सचेत कर सके।

नैतिकता के गिरते परिवेश के कारण ही व्यक्ति संबंधों में अलगाव की या स्वयं व्यक्ति में अति महत्वाकांक्षा की स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। ऐसी मनोस्थिति के दौरान वह अच्चे बूरे का भेद भी भूल जाता है जैसे 'मिश्र लोही' की 'अणिमा' के जीवन का ह्रास होता है, वह विदेश में पढ़ने की स्वच्छंदता तो पा लेती है, पर नीग्रो जाति के लड़के से प्रेमविवाह के लिए पापा की मनाही के बाद अपना महत्वाकांक्षी कदम उठा लेती है, समाज के विदेशी लोगों के तिरस्कार का सामना तो उसे करना ही पड़ता है क्योंकि कोई उसे किराए का कमरा भी देने को तैयार नहीं है। वह भी आत्मा से स्वीकार नहीं कर पाती। क्या नैतिकता की ये हास्यास्पद ह्रासपूर्ण स्थितिया एक नहीं, तीन–तीन व्यक्तियों की जिंदगी बरबाद नहीं कर रही? अप्रत्यक्ष रूप से प्रश्न उपन्यास 'मिश्र लोही' की लेखिका ईवा देवने उठाया है। अणिमा की परिणात्मक स्थिति देखिएः

''रेसियल डिस्क्रिमीनेशन कोने कहेवाय ने ते केवुं भयानक ने कदरूपुं होई शके – अेनो स्वानुभव भाडानुं घर शोधवाना प्रसंगे अणिमाने डगले ने पगले थयो हतो। भारतीय मकान मालिको तेने नन्नो परखावे छे अने टोणो मारवानी तक पण झडपी ले छेः 'केम बॉन, छेवटे काळियो ज मल्यो?''[61]

(रेसियल डिस्क्रिमीनेशन किसे कहते हैं और वह कितना भयानक और बदसूरत हो सकता है इसका प्रत्यक्ष अनुभव अणिमा को किराए का घर ढूंढते समय कदम कदम पर हुआ। भारतीय मकान मालिक उसे ना–ना कह देते हैं और समुदाय के बीच यह कहते भी नहीं चूकतेः ''क्यों बहन, आखिर कालिया ही मिला?'')

आखिर अणिमा उस काली बच्ची की माँ होने की हीनभावना से त्रस्त होकर उसे अपना वात्सल्य नहीं दे पाती और उसे भारत में 'बालाश्रम संस्था' के लिए अपने माता–पिता के साथ भेज देती है।

नैतिक मूल्यों की इन ह्रासमय स्थितियों के कारण सामाजिक और पारिवारिक व्यवस्थाएँ चरमरा गई हैं। साठोत्तरी उपन्यास इस बात को प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष व्यक्त कर ही देते हैं। मध्यमवर्गीय परिवारों में आधुनिकता के नाम पर भयंकर नैतिक बदलाव आए हैं। स्वयं यह मध्यमवर्गीय परिवार और सदस्य इनके बीच स्वयं को संतुलित करने की कोशिश में जुड़े हुए हैं।

हिंदी और गुजराती उपन्यासों में नैतिक साम्य–वैषम्यः

साठोत्तरी उपन्यास में भारत की स्थिति में काफी बदलाव देखा गया। भारत आर्थिक मिश्रित व्यवस्ता के कारण आर्थिक बदहाली की दशा में पहुँच गया और इसके कारण समाज का आर्थिक, सामाजिक ढाँचा ही बदल गया। पैसे की तंगी, बेकारी आदि के कारण मानव अपने पारंपरिक नैतिक मूल्यों से गिरने लगा। पैसे की दौड़ में वह स्वार्थी, लोभी और सम्बन्धों में अलगाव महसूस करने लगा। आर्थिक तंगी के कारण औरत घर से बाहर नीकली। साठोत्तरी उपन्यास में नारी केन्द्र में है। बाहर नीकलते ही उसका शोषण आर्थिक, शारीरिक और मानसिक तीन रूपों में हुआ। जो नारी कभी सम्मान की दृष्टि से देखी जाती थी, वह अब देह की दृष्टि से देखी जाने लगी। नैतिकता के आधार पर मध्यमवर्ग दो रूपों में सामने आया – एक आर्थिक विषमता में जीता हुआ थोड़ी बहुत मर्यादाओं को बनाये हुए। दूसरा वह वर्ग जो नैतिकता का जामा उतारकर देह जगत की ओर बढ़ा।इसी प्रकार आर्थिक मुनाफा, ठगी, भ्रष्टाचार, बेईमानी, लालच आदि साठोत्तरी उपन्यास के मध्यवर्ग का चित्र खींचते हैं।

साठोत्तरी उपन्यास में मानव सम्बन्धों में नैतिक वर्जनाएँ टूटती हैं और शारीरिक माध्यम ही जैसे जीवन का आधार बनने लगता है। 'मछली मरी हुई' उपन्यास में राजकमल चौधरी ने नारी जीवन की दैहिक विकृति को खुले हुए रूप में प्रस्तुत किया है। शीरीं और प्रिया के समलैंगिक यौनाचार की कहानी में जैसे मानव जीवन की मर्यादा ही समाप्त हो गयी है ऐसा लगता है। शीरीं को अपने पिता से इसलिए नफरत हो जाती है क्योंकि माँ ने बताया था कि पिता किस प्रकार जंगली जानवर की तरह उसके साथ व्यवहार करते थे। इसलिए शिरीं हर मर्द से नफरत करने लगती है। बड़ी बहन के साथ शिरीं जैसे अपने मन की कुंठाओं को विकृत करती चलती है।

'मछली मरी हुई' वैसे भी नारी जीवन की खत्म हुई छटपटाहट को व्यक्त करता है और लेस्बीयन नारियों की कहानी को सामने खोलता है। शिरीं को उसकी बड़ी बहन जब समझाती है तो शीरीं की मनोदशा इस प्रकार की हो जाती हैः

''शीरीं आश्चर्यचकित थी। वह बेहद उत्तेजित थी। बहन जो करना चाहती थी, करने देती थी.... कोई पुरुष शीरीं को इतनी शीतलता, इतनी शीतल उत्तेजना और इतनी उत्तेजक शारीरिक वेदना नहीं दे सकता था।''[62]

गुजराती उपन्यासों में नैतिकता का उन्मूलन मध्यमवर्गीय परिवारों में दिखाया गया है। जैसे 'किम्बल रेवन्वूडस' में जब योगेश विशाखा को देखने जाता है तब विशाखा उसे अपने पिता द्वारा कही बात बताती है, जिससे ऐसा लगता है कि पिता–पुत्री के बीच ऐसा खुला वक्तव्य क्या उचित है? ''फादर कहे छे के विशाखा, छोकरो जुवे त्यारे बीजुं बधुं पछी, सौथी पहेलां कपड़ां वगर छोकरो केवो लागे छे ए विचारी जोजे।''[63] (फादर कहते हैं कि विशाखा, लड़का देखो तब दूसरी बातें बाद में, सबसे पहले यह सोचना कि बिना कपड़ों के लड़का कैसा लगता है।)

कृष्णा सोबती 'मित्रो मरजानी' अपनी स्त्रीपात्र मित्रो द्वारा बताती है कि नैतिकता का मापदंड व्यर्थ है। मित्रो कहती हैः ''मेरी इस देह में इतनी प्यास है, इतनी प्यास है कि मछली सी तड़पती हूँ।''[64]

गुजराती उपन्यास 'कामिनी' में कामिनी इतनी स्वच्छंद और फ्लर्ट नायिका है कि वह मजाक–मजाक में चोरी–छिपे अनैतिकता के खेल खेलती है। जैसे एक बार वह अपनी सहेली और पाठक आदि के साथ एक जगह कहती हैः ''हाँ, सुखी छीओ, तु तारा पतिनी पीठ पाछळ अने हुं मारी बहेन अने पाठकनी पीठ पाछळ चोरी छुपेथी मळिये।।''[65]

(हाँ, सुखी हैं। तु तेरे पति की पीठ के पीछे और मैं मेरी बहन और पाठक की पीठ के पीछे चोरी–छिपे मिलें।)

'राग–दरबारी' में श्रीलाल शुक्ल शिक्षण पद्धति में आज अनैतिकता को प्रदर्शित करते हैं। वह गयादीन पात्र द्वारा कहते हैं कि नैतिकता समझ लो कि ''यही एक चौकी है जो एक कोने में पड़ी है। सभा–सोसायटी के वक्त उस पर चादर बिछा दी जाती है, तब बढ़िया दिखायी देती है।''[66]

नैतिक मूल्य केवल देह की स्तर पर नहीं गिरे, बल्कि इस पूँजीवादी दौर में जमीन–जायदाद के हिस्से को लेकर भी गिरे हैं।

गुजराती उपन्यास में 'तिराड़' कहानी भी कुछ नैतिक पतन की अभिव्यक्ति करती है। 'जोईती' को बलदेव छेड़ने से बाज़ नहीं आता। ''ते वखते तेनी आँखो सापोलिया थईने जोईतीना वक्षस्थळ पर भमती हती... तूटी गयेला बटनवाळा कबजामांथी ततूंबी रहेला स्तनने अडपलुं करवानुं बलदेव संध्याकाळे चूक्यो नहोतो।।''[67]

(उस समय उसकी सर्पिली आँखें जोईती के वक्षस्थल पर घूमती होती। ... टूटे हुए बटनवाले ब्लाउज़ में से लटके हुए स्तन को छूने का साहस भी बलदेव घिरती संध्या में नहीं टाल पाता।)

इस प्रकार हम देखते हैं कि गुजराती और हिन्दी साठोत्तरी उपन्यासों में नैतिक ह्रास का कारण परिवार की विषम परिस्थिति, देह के प्रति आकर्षण और अधिक से अधिक सुख पाने की कामना रही है। नैतिक अवमूल्यन के कारण हिन्दी और गुजराती उपन्यासों में मध्यमवर्गीय मानव संबंधों में अलगाव, अति महत्वकांक्षा, अधिकाधिक पैसे प्राप्त करने की इच्छा और अधिकाधिक स्वतंत्रता प्राप्त करने की दौड़ को देखा जा सकता है। नारी भी इसमें पीछे नहीं रही।

आशारानी ब्यौरा लिखती है– ''प्रगति में आगे बढ़ी–चढ़ी शहरी सुशिक्षित महिलाओं में भी भले ही अभी तक सही पहचान नहीं बन पाई है, स्वयं नारी अधिकारों को लेकर विभिन्न मत, गहरे मतभेद, स्वतंत्रता और संरक्षण के बीच निर्णय की स्थिति, असहजता और कुण्ठाएँ आदि मध्यमवर्गीय लोगों की बात के सबूत हैं।''[68]

विवेच्य हिन्दी उपन्यासों में धार्मिक और सांस्कृतिक स्थितिः

भारतीय जन–जीवन में धर्म किसी समय जबरदस्त पैठ के साथ वैचारिकता, उदात्तता के साथ अपने संपूर्णत्व में रहा है। और इसने भारतीय संस्कृति को समुन्नत स्वरूप भी दिया है। धर्म जो कभी आचरण का पर्याय था, धर्म जो कभी सामूहिकता का पर्याय था, मध्यमवर्गीय समाज में धर्म का परंपरागत स्वरूप बदला नजर आ रहा है। धर्म की व्याख्या बदल रही है। अब परम्परागत धर्म सर्वोच्च और सर्वोत्तम न होकर जीवन का एक वैयक्तिक एवं ऐच्छिक अंश रह गया है। धर्म के परिणत स्वरूप का विवेचन किया जाय तो स्पष्ट होगा कि परम्परागत धर्म जो अलौकि तत्व अर्थात् ईश्वर, देवी–देवता पर आधारित था, उसे रूपान्तरित स्थिति में मानवीय आधार मिला। धर्म परम्परागत भावात्मक रूप की अब बौद्धिक व्याख्या प्रस्तुत की जाने लगी है। धर्म जो नीति एवं सत्य विरुद्ध भी हो सकता था, अब उसके नीतिसम्मत सत्य रूप को ही प्रतिष्ठा मिलने लगी। वर्तमान समय में रुढ़िगत धार्मिक मान्यताओं का विरोध हो रहा है।

साठोत्तरी हिन्दी उपन्यासों में धर्म के प्रति विविध दृष्टिकोणों की अभिव्यक्ति हुई है। मानव–मानव के बीच संहार मचानेवाला धर्म का अब ध्वंस होने लगा है। मध्यमवर्गीय आधुनिक युवा जगत में धर्म के प्रति अश्रद्धा की भावना प्रबल हो रही है, क्योंकि आज का आधुनिक युग वैज्ञानिक युग कहलाता है। विविध टैक्नोलॉजी के प्रचार माध्यमों ने धार्मिक अन्धविश्वासों, रुढ़ियों और आडम्बरों को खुला कर दिया है। उसकी सब पोल खोल दी है। युवा मानस समझता है कि धार्मिक और सामाजिक नियम केवल सुविधा के लिए ही बनाये गये हैं।

''धर्म तथा नैतिकता की नंगी तलवार के नीचे व्यक्ति सदा भयभीत रहा। धर्म एवं नीति सम्बन्धी विधि–विधान में मनुष्य को परिवर्तन का कोई अधिकार नहीं था। पर आधुनिक युग में परंपरागत नैतिकता का हौवा समाप्त हो चूका है। मानव ने अपनी सुविधानुसार नीति–विधान को अपनाया है। नई नैतिकता अब टोकती नहीं है, रोकती नहीं है, अपितु उसके कार्यों का समर्थन करती है। जहाँ पुरानी नैतिकता व्यक्ति को तोड़कर चलती थी, वहाँ नई नैतिकता व्यक्ति को जोड़कर चलती है। परम्परागत नैतिकता ने मानव को दुर्बल, रुग्ण और क्षीण बनाया। सब प्रकार से उसकी हानि अधिक हुई। विगत नैतिकता आदर्शों में जन्मी और आदर्शों में ही पली थी। यथार्थ से उसका सरोकार नहीं के बराबर था। पर आधुनिक नैतिकता यथार्थ की उपज और आवश्यकता है। अतः यह व्यक्ति के अधिक निकट है। व्यक्ति को साथ लेकर चलनेवाली है। सुविधानुसार ढलनेवाली है।''[69]

'मछली मरी हुई' में परंपरागत नैतिकता के अंधेपन को खुला करते हुए लिखा हैः ''पाप की तरह नैतिकता भी नशा है, आदत है। नैतिकता भी आदमी को गुलाम और अन्धा बनाती है, जैसे किसी औरत का प्यार अंधा बनता है।''[70]

'डाक बंगलो' में इरा परिस्थितियों से बेबाक होती हुई पाप और पुण्य की सांस्कृतिक धरातल के आधार पर दोहरे मूल्यों की जाँच–पड़ताल करती हुई दिखायी देती है। ''पाप और पुण्य के ये मूल्य समानान्तर चलते हैं। अगर विरोध कहीं तो धर्म और आचरण की पोथियों में या एकांतिक अधिकार प्राप्त न कर सकनेवाले व्यक्ति की दूषित और कुंठित और मानसिक गुंजलकों में।''[71]

विज्ञान के उत्तरोत्तर विकास के कारण एवम् जन–जन शैक्षणिक ज्ञान की बढ़ोत्तरी के कारण मध्यमवर्गीय समाज में फैली कुछ मान्यताओं का ह्रास हुआ है। 'अपने–अपने अजनबी' की योके सत्य मानने के साथ ''मृत्यु को ही एकमात्र सच्चाई मानती है।''[72] 'अनदेखे अनजाने पुल' की निन्नी अपने पिता की मृत्यु को सहज रूप में लेती है और स्वीकार करती है कि ''चलो प्रकृति का एक नियम पूरा हो गया।''[73]

'अमृत और विष' के अरबिन्द शंकर, सत्य श्रमाम्याम् सकलार्थ सिद्धिः ''के आधार पर टिके हुए विश्वास के नाम को ही ईश्वर रूप में स्वीकार करते हैं।''[74] धर्म के नाम पर होनेवाले हिन्दू–मुसलमानों के अत्याचार को लेकर ईश्वर पर 'झूठा–सच' में व्यंग्यात्मक वाणी लिखती है : ''जान पड़ता था कि भगवान ने तो उन्हें भुला दिया, परंतु ये लोग भगवान को नहीं भुला सकते थे। भगवान मनुष्य की जितनी चिन्ता

करता है, उससे कहीं अधिक मनुष्य भगवान की चिंता करता है।''[75] 'मछली मरी हुई' का निर्मल पद्मावत धर्म पर विश्वास नहीं करता, क्योंकि ''धर्म अन्धा बनाता है, ईश्वर पर भरोसा करते ही अपनी शक्ति पर अनास्था हो जाती है।''[76]

मध्यमवर्गीय समाज की पुरानी पीढ़ी या बुजुर्ग वर्ग और नई आधुनिक पीढी के बीच धर्म की बात को लेकर संघर्ष देखने को मिलता है। रमेश और उसके साथी मन्दिर की अपेक्षा संघ को अधिक महत्व देते हैं जबकि परम्परागत पीढ़ी के प्रतीक रमेश के पिता और उनके साथी संघ की अपेक्षा मंदिर को अधिक महत्व देते हैं। कभी प्रिय लगनेवाले धर्म अनवर साहब के लिए अब बेकार की चीज है। मध्यमवर्गीय पुरानी पीढ़ी में धार्मिक अंधविश्वास अब भी प्रवर्तमान है। 'मछली मरी हुई' का निर्मल पदमावत धर्म पर अविश्वास होते हुए भी अपने शयन–कक्ष में दक्षिण काली की मूर्ति रखता है। इससे स्पष्ट है कि उसके ''अन्तर्मन में धार्मिक भावना, भय सुरक्षित है. अब भी धर्म नहीं मिटा है।।''[77] इससे हमें यह देखने को मिलता है कि मध्यमवर्गीय समाज में परम्परागत धार्मिक मूल्यों का प्रभाव पूर्ण रूप से नष्ट नहीं हो पाया है।

आज के समाज में मानव–धर्म परम्परागत धर्म की अपेक्षा व्यक्ति के अधिक निकट है। मध्यमवर्गीय युवा ने अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए परम्परागत नैतिक, धार्मिक औवं सांस्कृतिक मूल्यों को तोड़ने का प्रयत्न किया है और उसके प्रति विद्रोह व्यक्त किया है। 'सबहिं नचावत राम गोसाई' का वृद्ध घासीराम पाप के अस्तित्व को स्वीकार करता है तथा तीर्थयात्रा द्वारा पाप प्रक्षालन की तैयारी करता है। अभिप्राय यह है कि परंपरागत धार्मिक मूल्यों के प्रति पुरानी पीढ़ी में अब भी आस्था की भावना शेष है। पर नई पीढ़ी नवीन मूल्यों के साथ आगे बढ़ रही है जिसके फलस्वरूप धर्म के प्रति उनकी अनासक्ति बढ़ रही है। लेकिन युवावर्ग बिलकुल नास्तिक नहीं है। ''सजीव उपस्थिति का नाम ही ईश्वर है। कोई भी उपस्थिति ईश्वर है। क्योंकि नहीं तो उपस्थिति हो ही कैसे सकती है?''[78]–'अपने–अपने अजनबी' की योके का यह विश्वास है।

मन वृंदावन का मध्यमवर्गीय युवक पतिराम अपने गुरु से प्रश्न करता है: ''अगर ईश्वर है, धर्म है, तो हमें कम से कम दोनों वक्त भोजन, तन ढकने को कपड़ा क्यों नहीं मिलता?''[79]

यहाँ पर युवा वर्ग का ईश्वर पर से उठता हुआ विश्वास दिखाई देता है। '''बारह घंटे' की नायिका विनी अपने पित की मृत्यु पर पति की मरणोत्तर की सद्‌गति के लिए प्रार्थना करती है।[80] क्योंकि हमारे परंपरागत धार्मिक मूल्यों के अनुसार मृत्यु के उपरांत आत्मा भटक भी सकती है। 'अपने–अपने अजनबी'

में मृत्यु पर लिखा गया है : ''जीना ही जीर्ण होना है, और अब जीने का साधन ऑक्सीजन नहीं रहती तब जीर्ण होने की क्रिया भी रुक जाती है।''[81]

'झूठा–सच' उपन्यास के पण्डित के विचार परम्परागत विचारों से पृथक् हैं। पण्डितजी के विचारों से– ''सुकर्म, कुकर्म की कसौटी ज्ञान और भावना है... कार्य और कर्म तो क्षण में समाप्त हो जाते हैं। वे मनुष्य को नहीं बाँध सकते... मनुष्य कर्म का फल अवश्य पाता है। इसका अर्थ यह नहीं कि हम जिन कर्मों को जानते नहीं, उनके फल से नियंत्रित हैं, बल्कि यह कि हम अपने प्रयत्न और कर्म से स्वयं और समाज को जैसा बनाने का प्रयत्न करते हैं, हमारा जीवन उसी के अनुसार बन जाता है।''[82]

'''मछली मरी हुई' का मध्यमवर्गीय पात्र पद्मावत भाग्य पर विश्वास नहीं करता।''[83] 'मन वृंदावन' का पुरुष पात्र सुबन्धु धार्मिक यात्रा में जा रहा है लेकिन वह यह भी मानता है कि ''इस धर्म कर्म से कुछ लेना देना नहीं।''[84] सुबन्धु के साथ ही इस धर्म यात्रा में सुगन भी चल रही है। उसका भी अंधविश्वास टूट रहा है और अपने पति की बीमारी का ठीक होने का श्रेय दवाइयों को देती है। इस प्रकार मध्यमवर्गीय समाज में आज पुरुष के साथ साथ नारी की धार्मिक अंधश्रद्धा का अन्त हो रहा है। 'सामर्थ्य और सीमा' का देवशंकर ईश्वर की सत्ता को नकारते हुए नास्तिक हो गया है। एलबर्ट किशन मंसूर को 'धर्म–कर्म एक महज ढकोसला'[85] दिखाई पड़ता है। शर्माजी धर्म के प्रति आवेश को न रोककर कह देते हैं: ''किस साले की आज धर्म और ईमान पर आस्था रह गई है?''[86] वह परंपरागत धर्म को नकारते हुए सांस्कृतिक प्रतिमानों को गढ़ते हुए कहते हैं: ''कमजोर अपाहिज़ और मूर्ख जनता को लूटने के लिए धर्म और ईमान को गढ़ा है।''[87]

सांस्कृतिक स्थितिः

'' 'संस्कृति' का व्यापक अर्थ किसी जीवन पद्धति से है, जिसमें उसकी कला, शिल्प, विश्वास, मान्यताएँ, मूल्य, जीवन, दर्शन, प्रथायें, धर्म आदि सब समाहित हैं।''[88] मध्यमवर्गीय समाज अपने सांस्कृतिक विषयों जैसे ईश्वर, भाग्य, पुनर्जन्म तथा परलोक पर भौतिक दृष्टि से विचार करते हैं। ''बारह घण्टे' का लारेंस प्रेम के मध्य ईश्वर को उचित नहीं मानता। वह कहता है: ''ऐसी भूलों का उत्तरदायित्व भगवान पर नहीं डालना चाहिए। भगवान तो नर–नारियों के जीवन को सार्थक और सरल बनाने के लिए अपनी आवश्यकता की पूर्ति का प्रयत्न करता रहता है।''[89]

साठोत्तरी मध्यमवर्गीय उपन्यासों में ईश्वर, देवी–देवता, पूजा–पाठ इत्यादि धार्मिक मान्यताओं को अंधविश्वास मानकर भौतिकवादी जीवन के अन्तर्गत उसकी व्यर्थता को सिद्ध किया है। 'झूठा–सच' में लाहौर से आये शरणार्थियों को भाग्य से जिस विषम परिस्थितियों का सामना करना पड़ा इससे बाहर निकलकर वह सोचते हैंः ''वे भाग्य को अंगूठा दिखाकर हँस रहे थे, भाग्य उन्हें कुचल नहीं सकता। वे चिन्ता करके थक गये थे, अब उन्हें किसी बात की चिन्ता न थी।।''[90]

युगानुकूल परिवर्तन पाप–पुण्य सम्बन्धी जो मान्यताएँ प्रचलित थीं उसकी टीका–टिप्पणी करते हुए 'उखड़े हुये लोग' का शरद पाप–पुण्य के निर्णय में असमर्थता व्यक्त करता हुआ कहता हैः ''कल के पाप और पुण्य की परिभाषाएँ ओछी और छिछली हो गई हैं। और आनेवाले कल पर भी हमें विश्वास नहीं।''[91] 'भूले बिसरे चित्र' के अंतर्गत मध्यमवर्गीय प्रभुदयाल नियति को भाग्य से सम्बद्ध मानते हुए कहते हैंः ''कि एक तबाह होता है उससे दूसरा लाभान्वित होता है, यह नियति का विधान है, जिसे कोई बदल नहीं सकता। यह ऐसे ही चलता रहेगा।''[92]

साठोत्तरी मध्यमवर्गीय उपन्यासों में आधुनिक युवा वर्ग सुख–दुःख की सत्ता को स्वीकार करते हुए परंपरागत धार्मिक और सांस्कृतिक मान्यताओं को झूठा साबित करते हुए नवीन दृष्टिकोण, नवीन प्रतिमानों को गढ़ा है। 'झूठा सच' में तारा दुःखों और व्यथाओं को अन्तहीन मानती हुई कहती हैः ''कहीं शारीरिक है तो कहीं मानसिक।''[93] 'अनदेखे अनजाने पुल' की निनी मानती हैः ''और वस्तुतः क्या सुख–दुःख। मानो तो दुःख है, न मानो तो कुछ भी नहीं, मन माने की बात है।''[94] 'यह पथबन्धु था' के अंतर्गत सुख और दुःख के बारे में लिखा हैः ''दुःख वह परम पद है जिसे स्वतः भोगना होता है।''[95]

मनुष्य का अपना एक बनाया हुआ समाज होता है। समाज के द्वारा ही वह कला, नैतिकता, प्रथाओं, परम्पराओं, ज्ञान आदि का अनुसरण करने के लिए बाध्य है। समाज का यही खजाना उसकी संस्कृति कहलाता है। समाज में मनाये जाने वाले पर्व, त्यौहार, संस्कार, रीति–रिवाज, आस्थाएँ, मान्यताओं, रुढ़ियों, कलाओं को संस्कृति के विभिन्न हिस्से माने जाते हैं।

ग्राम्य जीवन सही मायने में भारतीय संस्कृति की बुनियाद है। अतः वह भारतीय संस्कृति की नींव है। पाश्चात्य प्रभाव के कारण स्वातंत्र्योत्तर भारत में सांस्कृतिक परिवर्तन दोहरे रूप में हो रहा है। परंपरागत भारतीय संस्कृति को नवीन रूप मिल रहा है। आज के आधुनिक समय में हो रहे शैक्षणिक प्रसार के परिणामस्वरूप मध्यमवर्गीय समाज के लोगों के व्यावहारिक जीवन में आमूल परिवर्तन हुआ है।

साठोत्तरी मध्यमवर्गीय आंचलिक उपन्यासों में हम देख सकते हैं मध्यमवर्गीय ग्रामीण व्यक्ति में शहरों की अपेक्षा रुढ़ियों, पारंपरिक मान्यताओं और अंधविश्वासों के प्रति अश्रद्धा की जो गति है वह इतनी तीव्र नहीं है लेकिन उसके बावजूद उसमें नई चेतना ने उसको आगे धकेलने की पूर्ण कोशिश की है। साठोत्तरी मध्यमवर्ग से सम्बन्धित उपन्यासों में प्राचीन और नवीन विचारधारा के बीच घर्षण दिखाई देता है। प्राचीन संस्कृति धीरे–धीरे अदृश्य हो रही है।

''संस्कृति वह सीखा हुआ व्यवहार है, जिसके द्वारा मानव पशु जगत से पृथक होकर सभ्य कहलाता है। संस्कृति का व्यापक अर्थ किसी समाज की जीवन पद्धति से है, जिसमें उसकी कला, शिल्प, विश्वास, मान्यताएँ, मूल्य, जीवन दर्शन, संस्कार प्रथायें, धर्म आदि सब समाहित हैं।''[96]

साठोत्तरी मध्यमवर्गीय आँचलिक उपन्यासों में हम देख सकते हैं कि जातिवाद और भाईचारावाद जैसी प्रवृत्ति ज्यादा बढ़ने लगी, जिसने साम्प्रदायिक रूप धारण कर लिया। हिन्दू और मुसलमानों के बीच झगड़े दिखाई देते हैं। इसके साथ–साथ बढ़ती हुई महँगाई और बेरोजगारी की समस्या ने धार्मिक और सांस्कृतिक मूल्य धराशयी कर दिया है। 'अलग–अलग वैतरणी' जो शिवप्रसाद सिंह द्वारा रचित उपन्यास है, इसमें हमें गाँव की धार्मिक और सांस्कृतिक परिस्थिति विसंगतिपूर्ण देखने को मिलती है। धर्म के लिए उन गाँव के लोगों में न प्रेम देखने को मिलता है और ना ही धार्मिक त्यौहारों के प्रति रूचि। मकर संक्रांति के अवसर पर गंगाजी चिबड़ा, तिलोरे, मिठाई का प्रबंध संभालता था। वह प्रथा बुझारथ सिंह ने इस वर्ष बन्द कर दी। वह कहता हैः ''क्या रखा है इस दिखावे में? सारा रस्म–रिवाज हमीं निभाते चलें ? जब गाँव के लोगों ने नजराना बन्द कर दिया तो हम यह सब काहे को करते फिरें?''[1] इस प्रकार इस आधुनिक टेक्नोलॉजी के युग में प्रायः भारत के सभी ग्राम्य विस्तारों में रस्म–रिवाजों के प्रति नैराश्य और अनुत्सुकता का भाव बढ़ता जा रहा है। साठोत्तरी उपन्यासों में लोगों की त्यौहारों के प्रति अरुचि दिखाई देती है। क्योंकि आधुनिक टेक्नोलॉजी और नवीन शिक्षा प्रणाली ने परंपरागत त्यौहार, धर्म को उपेक्षा की दृष्टि से देखा है। रामदरश मिश्र कृत 'जल टूटता हुआ' उपन्यास का पात्र कहता हैः ''अब तो बच्चे बाहरी स्कूलों में पढ़–लिख लेने के नाते इन खेलों को गँवारू चीज समझने लगे हैं। घरों के सयाने लोग अपने–अपने घर काम में लगे रहना ही आज जीवन समझने लगे हैं। यहाँ तक कि, पड़ौसियों के यहाँ पड़ने वाले शादी–ब्याह या सामाजिक त्यौहारों के दिन उनमें कोई उमंग नहीं आती, जो खुलकर गा नहीं पाते, मिल नहीं पाते।''[98]

डॉ. राही मासूम रजा कृत 'आधा गाँव' में पहले मोहरम के त्यौहार पर आनंद, हर्ष, उल्लास का वातावरण बना रहता है। लेकिन हिन्दू-मुसलमान के धर्मो ने साम्प्रदायिक रूप धारण कर लिया है। आज मोहर्रम के त्यौहार पर वह आनंद नहीं आता क्योंकि उस वक्त भय का वातावरण छाया रहता है। उस अवसर पर लाठियाँ और लाशें गिरती हैं। आज के समय में हम देख सकते हैं, त्यौहार के पीछे जो धार्मिक भावना छिपी थी वह आज लुप्त हो गयी है। 'अलग-अलग वैतरणी' में हिन्दू-मुसलमानों के त्यौहारों में परस्पर समभाव और प्रेमभाव न देखकर खलिल मियाँ अफसोस व्यक्त करते हैं।

इस प्रकार धार्मिक और सांस्कृतिक के बदलते दृष्टिकोण साठोत्तरी मध्यमवर्गीय समाज में दृष्टिगोचर होते हैं। मध्यमवर्गीय समाज में आर्थिक समस्या के कारण भी त्यौहारों के उत्साह को नष्ट कर दिया है।

''मेलों की प्रथा भी सांस्कृतिक जीवन का अंग है। ये मेले त्यौहारों के दिन लगते हैं। वसन्त पंचमी, शिवरात्रि, दशहरा, नाग पंचमी, होली, दीपावली, जन्माष्टमी, रामनवमी, मकर संक्रांति ऐसे बहुत से त्यौहारों के दिन ठीक उन्हीं ग्रामों में सामाजिक एवं सांस्कृतिक महत्व के अनुसार मेले लगते हैं। उन मेलों में आसपास के ग्रामों के लोग बड़े उत्साह से शरीक होते हैं। लेकिन अब परिवर्तन के साथ ये मेले गुंडई और स्वार्थ के अड्डे बने हुए प्रतिलक्षित होते हैं।''[99]

'अलग-अलग वैतरणी' जो शिवप्रसादसिंह कृत उपन्यास है, जिसमें कैरता गाँव की सांस्कृतिक छवि देखने को मिलती है। उपन्यास की शुरुआत में ही रामनवमी के दिन कैरता गाँव में लगनेवाले मेले का वर्णन मिलता है। इस मेले में गाँव का हरेक आदमी हर्ष-उल्लास से भाग लेते हुए दिखाई देता है। इस उपन्यास में लेखक ने विभिन्न त्यौहारों का उल्लेख किया है। खिचड़ी का त्यौहार बड़े धाम-धूम से मनाया जाता है। इस दिन गाँव के सभी बच्चे नये कपड़े पहनते हैं। गाँव का गिना जाने वाला प्रतिष्ठित व्यक्ति यानी जमींदार भी इस दिन सभी गाँववालों में मिठाइयाँ बाँटता है। धर्म से सम्बन्धी सभी मान्यताएँ, आस्थाएँ, अंधविश्वास के रूप में प्रतिष्ठित हैं। लेकिन शिक्षा के प्रति अरूचि है। शिक्षा का आदर्श प्रस्थापित करनेवाला गाँव का अध्यापक शशिकांत को जड़ मूल से उखाड़ देते हैं। इस उपन्यास में भोजपुरी संस्कृति का प्रतिबिंब झलकता है। लेकिन अब गाँव में लगनेवाले मेलों में गुंडागर्दी देखने को मिलती है। इन्दलसिंह जगन मिसिर से कहते हैं: ''किस-किस मुश्किल से कैरता के पुरनिया लोगों ने यह मेला जमाया और संवारा। उसी मेले में अब आप ही के गाँव के लोग आवारागर्दी करते हैं। धिक्कार आप लोगों का।''[100]

रामदरश मिश्र ने भी अपने उपन्यास 'जल टूटता हुआ' में भी मेले की निरसता का वर्णन किया है। इस उपन्यास का पात्र सतीश कहता है: ''अब मेलों का वही जोर नहीं रहा जो पहले था। यही वह मेला है जो पहले अपनी भीड़ और वैभव के लिए दूर-दूर विख्यात था। अब पूरे मेले में भीड़ के बीच एक अजब बिखराव दिखता है। राम लक्ष्मण रावण के ठाट-बाट की जगह एक दरिद्र सूनापन दौड़ रहा है।''[101]

श्रीलाल शुक्ल ने भी 'राग-दरबारी' उपन्यास में मेलों का व्यंग्यात्मक चित्रण खींचा है, जिससे स्पष्ट रूप से दिखाई देता है कि आज के टेक्नोलॉजी और विज्ञान के युग ने संस्कृति का जो मूल रूप था उसे नष्ट कर दिया है। पाश्चात्य संस्कृति ने परंपरागत संस्कृति को जर्जर करके धराशयी कर दिया है।

रामदरश मिश्र कृत 'जल टूटता हुआ' में तिवारीपुर गाँव के अंचल की भोजपुरी सांस्कृतिक झाँकी चित्रित की है। इस उपन्यास में नागपंचमी, दीपावली, होली, दशहरा, चिक्का कबड्डी आदि त्यौहारों का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। रामनवमी के दिन रामलीला का आयोजन किया है, लेकिन पहले जैसी प्रसन्नता उसमें नहीं दिखाई देती। शहर में पढ़नेवाले लड़के मेले, त्यौहार को गँवारू दृष्टि से देखते हैं। गाँव के गुण्डे अश्लीलता को, गुंडागर्दी को इस मेले में अधिक प्राधान्य देते हैं।

ग्रामीण समाज में फैले हुए अंधविश्वास भी सांस्कृतिक मूर्खताओं से ही सम्बद्ध हैं। हिमांशु श्रीवास्तव की पुस्तक 'नदी फिर बह चली' में अंधविश्वास का वर्णन करते हुए लिखा है: ''ब्राह्मण का मारा गया लड़का जामुन के पड़ पर ब्रह्मपिशाच होकर निवास करता है और लोगों को सपने देकर विधिवत् अपना चबूतरा बनवाकर पूजा लेता है।''[102]

'पानी के प्राचीर' में देवी के देवढ़ी पर रामनवमी के दिन भूत-प्रेतों के साथ खेलते हुए रामधन तेली को सारे ग्राम-समाज के बीच मानते हैं। 'अलग-अलग वैतरणी' के करैता गाँव में भी मनौतियाँ मानी जाती हैं लेकिन आज शिक्षा के प्रसार और प्रचार के कारण साठोत्तरी उपन्यासों के ग्रामीण मध्यमवर्ग में अन्ध-विश्वासों के प्रति विश्वास है किन्तु आस्था नहीं रही।

जयश्री बरडट्टे ने अपने आलोचनात्मक ग्रंथ 'हिन्दी उपन्यास : सातवाँ दशक' में लिखा है: ''आज प्रत्येक व्यक्ति के भीतर नयी पुरानी संस्कृति के मूल्यों के बीच संघर्ष दिखायी देता है। नये मूल्यों का मानव ने हमेशा ही स्वागत किया है। नवीनता का पुजारी यह मानव प्राचीनता का गला घोंटता हुआ दिखायी देता है। यथा-प्राचीन मानव चाँद की पूजा करता था तो अब नहीं, क्योंकि मानव चाँद की धरती पर जा पहुँचा

है। बुद्धिवाद से आक्रान्त वैज्ञानिक दृष्टि से है। पुरानी अन्ध मान्यताओं से मुक्ति के बिना नये युग का निर्माण सम्भव नहीं।''[103]

विवेच्य गुजराती उपन्यासों में धार्मिक और सांस्कृतिक स्थितिः

साठोत्तरी गुजराती उपन्यासों में मध्यमवर्गीय परिवारों की धार्मिक और सांस्कृतिक स्थितियों का चत्रिण भी बखूबी प्रस्तुत हुआ है। इसका स्वरूप भी अपने परम्परागत ढाँचे से अंशतः परिवर्तित मिलता है।

धर्म और संस्कृति का जो स्वरूप कभी समुदाय भावना पर आधारित रहा था, वह अब विच्छिन्न होकर वैयक्तिक स्वरूप में बदल गया है। जो रूप भावात्मक तल से जुड़ा था, वह वैचारिक अधिक हो गया। जबकि स्वामी विवेकानंद अपने उस धर्म और संस्कृति पर गर्व महसूस करते हैं जो सनातन है, वैश्विक है। वे अपने चिन्तन में कहते हैंः ''मैं एक ऐसे धर्म का अनुयायी होने में गर्व अनुभव करता हूँ जिसने संसार को सहिष्णुता तथा सार्वभौम स्वीकृति दोनों की ही शिक्षा दी है। हम लोग सब धर्मो के प्रति केवल सहिष्णुता में ही विश्वास नहीं करते, वरन् समस्त धर्मो को सच्चा मानकर स्वीकार करते हैं।''[104]

धर्म के अंतर्गत ईश्वर चिंतन, अनुष्ठान, व्रत, उपवास, मान्यताएँ, कर्मकाण्ड, भक्ति, मानव–सहिष्णुता, सार्वभौमिकता आदि पहलुओं का रेखांकन होता है। यों 'धर्म' या 'धार्मिक' शब्द बड़ा व्यापक है और इसे मनुष्य के 'कर्तव्य' के साथ भी जोड़ा जाता है। 'मनुष्य का धर्म या मनुष्य का कर्तव्य' कहकर इस बात को अक्सर सिद्ध किया जाता है। इस प्रकार धार्मिक होना, यह केवल 'ईश्वर' के प्रति भक्ति को ही प्रमाणित नहीं करता, बल्कि समस्त सृष्टि के प्रति मनुष्य व्यवहार का प्रतीक है। प्राचीन समय में अवश्य 'धर्म' या 'धार्मिकता' की अमर कीर्ति रही है। सीधे भगवान के साथ मानव आत्मा का संबंध तय करने का प्रयास रहा है। अतः धार्मिक शब्द रहस्य की सृष्टि भी करता रहा है, आधुनिक भौतिक उन्नति के साथ–साथ मनुष्य सृष्टि के रहस्यों को खोजने की ओर अग्रसर तो हुआ, मगर वह भयभीत और संशयशील भी अधिक बनता गया। अतः धार्मिकता के तौर पर नास्तिक और आस्तिक मानव का भेद किया जाने लगा। धार्मिक भीरूता बढ़ी।

यों भी बौद्धिक स्तर पर हम सोचते हैं तो पाते हैं कि मनुष्य की सत्ता दो रूपों में बटी है – एक भौतिक दूसरी आंत्मिक। भौतिक दृष्टि से मनुष्य अपनी शारीरिक, सुविधा–सुख की सामग्री के लिए प्रयासरत रहता

है और इसके लिए वह निरंतर जीविकोपार्जन के लिए देश–विदेश, विभिन्न मानव–व्यवहारों के बीच भटकता है, जबकि आत्मिक पक्ष के लिए वह अपने अस्तित्व, आत्मा के सुख के लिए भटकता है। वहाँ वह ईश्वरीय चेतना के साथ एकाकार होने की कोशिश करता है। अब इन दोनों स्थितियों के बीच संतुलन करने के लिए उसके संचित संस्कार ही उसे प्रसन्न या संशयशील बनाते हैं।

श्रीमद्भगवतगीता में स्वयं श्रीकृष्ण कहते हैं:

''ईश्वरः सर्वभूतानां हद्देशऽर्जुन तिष्ठति।

भ्रामयन्तसर्वभूतानि यन्त्रारुढानि मायया।।''[105]

(अर्थात् हे अर्जुन! सब प्राणियों के हृदयप्रदेश में ईश्वर रहता है यानी अपनी माया से वह सबको यंत्र पर आरुढ़ की भाँति घुमाता रहता है।)

अब प्रश्न यह उठता है कि आखिर कौन से कारण हैं कि आज समाज इन धार्मिक–नैतिक चेतना को अपने मूल रूप में नहीं उतार पाता? ऐसा कौन सा डर है जो बौद्धिक मनुष्य के आगे रहस्यमयी प्रश्न करता है:–

''भय ना घोर जंगलमां ईश्वरना भयने अलग शी रीते तारववो?.... ईश्वर जेवुं आ जगतमां कोई होय तो आपणे कां तो तेनाथी हंमेशा डरता रहेवानुं, तेनी खुशामत करवानी, तेनी समक्ष लाचारी अनुभववानी..''[1]

(भय के घौर जंगल में ईश्वर के भय को किस तरह अलग करें? ईश्वर जैसा इस जगत में कोई है तो हमें या तो उससे डरते रहना है या उसकी खुशामद करनी या फिर उसके सामने लाचारी अनुभव करनी है।)

कारण स्पष्ट है जैसे–जैसे मानव समाज ने वैज्ञानिक, भौतिक उन्नति और शैक्षिक उन्नति की वैसे–वैसे ही उसने स्वयं को ही सर्वसत्तावान समझने की भूल कर ली। ''मैं ही ईश्वर'' की भावना होने से मानव जीवन के धार्मिक, भौतिक, सामाजिक मूल्यों में उतार–चढ़ाव आने लगे। वह पैसों की सुखवादी–वैभववादी जिंदगी को ही अपना लक्ष्य मान बैठा। फिर भी मध्यमवर्ग में कुछ तो धार्मिक, सांस्कृतिक मूल्य आज भी परम्परा से जीवित चले आ रहे हैं, जैसे अनुष्ठान, ईश्वर पूजा, व्रत, उपवास आदि।

गुजरात प्रदेश को तो साहित्यिक दृष्टि से भी धर्मों का तीर्थ माना गया है। मध्यकाल में यहाँ स्वामीनारायण सम्प्रदाय के कवियों का काफी वर्चस्व रहा है। यह नरसिंह महेता के भजनों की भूमि है।

चन्द्रकांत बक्षी का उपन्यास (1969) 'जातक कथा' वास्तव में आधुनिक बोधिसत्व की खोजयात्रा है। धर्म ने जहाँ वैयक्तिक प्रणाली को अपना लिया, वहाँ इस अस्तित्वपरक समस्या का दार्शनिक ढंग से इस उपन्यास में समाधान ढूंढने की कोशिश उपन्यासकारने की है। कथा नायक गौतम अपनी पत्नी यशोधरा और पुत्र राहुल के साथ मुंबई की एकरस जिंदगी से ऊब जाता है अतः वह जीवन बोध, अस्तित्वबोध, भविष्य बोध हेतु सोचता है। घूमता हुआ वह कलकत्ता, बनारस न जाने कहाँ–कहाँ जाता है। उसकी 'धर्मयात्रा' बौद्धिक मनुष्य की यात्रा है। आत्मगत होकर अपनी अंतरवेदना भगवान के सामने इस प्रकार रखता हैः

''भगवान! खोटुं हसुं छुं, दया करजे, बीजाओने ठगतो नथी, खोटुं हसीने मारी जातने ठगुं छुं, कारण के बाकीनी जिंदगी हजी जीववी पडशे।''[107]

(... भगवान! गलत हँसता हूँ, दया करना, दूसरों को ठगता नहीं हूँ, हँसकर अपने आप को ठगता हूँ, क्योंकि बाकी की जिंदगी भी तो अभी जीनी ही पड़ेगी।)

आधुनिक पीढ़ी का यह नायक गौतम घूमते–घूमते विविध घाटों पर घूमता है , सद्यस्नाता आम्रपाली का स्मरण उसे अच्छा लगता है, वह कहता है–

''नानां–नानां पापो करी नाखवानुं मन थई जाय... नदीमां दीवो तरतो मूकवानी तेने उच्चारेली मनोकामना भगवान! मारी बाकीनी जिंदगी वधारे रंगीन बनावजे... जे प्यारथी मने दुःखो आप्यां छे ओ पाछा नहीं लई लेतो।''[108]

(छोटे–छेटे पाप करने का मन हो जाता है... नदी में दीपक तैरता रखते समय उच्चरित मनोकामना – हे भगवान! मेरी बाकी बची जिंदगी ज्यादा हसीन बनाना.. जिस प्यार से मुझे दुःख दिए हैं वे फिर से मत ले लेना।)

हँसकर या रोकर आधुनिक मानव ईश्वर के प्रति अपनी हताशा या कुंठा ही व्यक्त करता है। गौतम अपने मित्र आनंद के साथ मिलकर इन धार्मिक रुढ़ियों की पोल खोलने से नहीं कतराता। उनकी परस्पर बातचीत में धर्म के प्रति उपहास और कटाक्ष की अभिव्यक्ति हुई है – ''शुद्धिना विदूषकोओ धर्मने कुंठित करी नाख्यो हतो, फलतः धर्म 'अधर्म'ना नवा नामे अने नवा स्वरूपे जन्मी रह्यो हतो। अंशतः 'आम्रपाली'नो 'धर्म' अने 'आनंद'नो 'अधर्म' एक ज दिशामां।...''[109]

(शुद्धि के विदूषकों ने धर्म को कुंठित करके रख दिया, फलतः धर्म 'अधर्म' के नए नाम और नए स्वरूप के साथ जन्म ले रहा था। अंशतः आम्रपाली का धर्म और आनंद का अधर्म एक ही दिशा मे...)

धर्म और दर्शन की चर्चा आधुनिक युवक–युवतियों के बीच मनोरंजक रूप से होती है। कुशीनगर के प्रवास पर जब गौतम को आश्ना नाम की लड़की मिलती है तो वह धर्म की विविधता पर बात करते हुए कहती है:

''ख्रिस्ती धर्म, ईस्लाम अने हिन्दू धर्मनुं प्रभवस्थान ईश्वर छे, ज्यारे बौद्ध धर्म...मां ईश्वर नथी, वास्तवमां बौद्ध धर्म शब्द भ्रामक छे... अे धर्म नथी, दर्शन छे। बौद्धधर्मना प्रचारार्थे कोई धर्मयुद्धो लड़ायां नथी.. व्यक्तिना धर्म अने व्यक्तिना कर्म विशे बौद्धधर्मनी दृष्टि सौथी आधुनिक छे... व्यक्ति अने संशय साथे चाले छे.... कारण बुद्धिनुं प्रथम चरण छे संशय.... व्यक्तिअे तो बोधिनी दिशामां ज जवुं पडे छे... बौद्धमार्ग एक मानसिक शिस्त छे।''[110]

(ख्रिस्ती धर्म, इस्लाम और हिन्दू धर्म का मुख्य स्थान ईश्वर है। जबकि बौद्ध धर्म में ईश्वर नहीं है। वास्तव में बौद्ध धर्म शब्द ही भ्रामक है। यह धर्म नहीं, दर्शन है। बौद्धधर्म के प्रचार के लिए कोई धर्मयुद्ध नहीं लड़ा गया ... व्यक्ति के धर्म और व्यक्ति के कर्म के विषय में बौद्ध धर्म की दृष्टि सबसे आधुनिक है, व्यक्ति और संशय साथ–साथ चलते हैं... क्योंकि बुद्धि का प्रथम चरण है संशय... व्यक्ति को बोधि की दिशा में ही जाना पड़ता है ... बौद्धर्मा एक मानसिक अनुशासन है।)

इस प्रकार 'जातक कथा' उपन्यास धर्म, अधर्म और विविध धर्म दर्शन की वैचारिक व्याख्या प्रस्तुत कर आधुनिक मानव की धार्मिक, मानसिक चेतना को सफल रूप से सामने रख पाया है। हालाँकि आधुनिक मानव संशयशील और अंधश्रद्धालु अधिक होता जा रहा है। गुजरात के परिवेश में आधुनिक वैज्ञानिक चेतना और धर्म की अंधश्रद्धालु चेतना एक साथ देखी जा सकती है। आज पण्डित–पुरोहित धर्म के ठेकेदार, धन लोलुप, आत्मघाती अधिक हो रहे हैं। 'जातक कथा' में धार्मिक श्रद्धालुओं की मात्रा और ठगी की बातों को देखते हुए बाबु दावलपुरा ठीक ही कहते हैं: ''ट्रेनना डब्बामां खीचोखीच खडकायेलां मानवप्राणियोनी दशा वाराणसीना गंगातटे मणिकर्णिका घाटना स्मशाने कतारबंध गोठवायेल अर्थीओ, अंधश्रद्धाळु के आस्थाळु यात्रिकोनी धर्मभावनानो गेरलाभ उठावता धंधादारी पुरोहित–पंड्याओनी धनलोलुपता गौतमना ललाटे भुंसाई गयेलुं आम्रपालीअे करेलुं चंदनतिलक, गोरखपुरनी रेल्वे क्लबनी नाईटलाईइ, फाँसी प्रसंगे गुनेगारनी

आजीजीमां प्रगटेली तेनी कुटुंबपरायणता... मंदिर–मूर्ति–पूजा–आरतीथी अस्पष्ट अेक हिमालयना उत्तुंग शिखर अने क्षणे–क्षणे नवां रूप सजतां बादलनी नयनमनोहर, निसर्ग लीला आदिना प्रसंगोचित अने गतिशील वर्णनचित्र नवलकथानो कला–विशेष छे।''[111]

(ट्रेन के डिब्बे में खींचातानी के साथ भरे हुए मानव प्राणियों की दशा, वाराणसी के गंगा तट पर मणिकर्णिका घाट के शमशान पर रखी कतारबंद अर्थियाँ, अंधश्रद्धालु और आस्थामयी यात्रिकों की धर्मभावना का गलत लाभ उठाते धंधादारी पुरोहितों की धन लोलुपता, गौतम के ललाट पर किया गया आम्रपाली का चंदनतिलक, गोरखपुर की रेल्वे क्लब की नाईटलाईफ, फाँसी के अवसर पर मुजरिम की प्रार्थना में प्रकट होती उसकी कुटुंबपरायणता, मंदिर–मूर्ति–पूजा–आरती से अस्पष्ट एक उत्तुंग हिमालय शिखर और बादलों की नयी सजी नयनमनोहर लीला आदि के प्रसंगोचित और गतिशील वर्णनचित्र उपन्यास के कला–विशेष हैं।)

'जातककथा' के अकेले साठोत्तरी उपन्यास ने ही आधुनिक धर्म की बदली हुई स्थितियों को बखूबी चित्रित कर दिया है।

व्यक्ति दुःखी होने पर ही न जाने क्यों ईश्वर को याद करता है।

लघु उपन्यास 'फेरो' (1968) का नायक पिता विनायक बड़ा आस्तिक है, वह सूर्य भगवान पर अटूट आस्था रखता है , उसमें नैतिक मूल्य भी संस्कारगत हैं। पर उसके घर गूंगा बेटा 'भैं' होने से वह अंधश्रद्धालु भी है। वैद्य, डॉक्टर सभी के इलाजों के बावजूद वह जानता है 'भैं' की वाणीगत समस्या। पर फिर भी चंडीपाठ, सूर्यपूजा, भागवतपुराण कथा का आयोजन करता है। उसकी पत्नी यात्रा के दौरान नागर वृद्धा से कहती हैः

''बाधा राखवा सूर्यमंदिरे जईअे छीए... त्यारे विनायकना मनमां कंईक झबकारो थयो अने तेने पहेली वार प्रतीति थई के आ छोकरो मारुं ज सर्जन छे, केम के अे मूंगो छे।''[112]

(मन्नत माँगने सूर्यमंदिर जा रहे हैं.... तब विनायक के मन में कुछ कंपकंपी हुई और उसे पहली बार प्रतीत हुआ कि यह लड़का मेरा ही सर्जन है, क्योंकि ये गूंगा है।)

'चिन्ह' उपन्यास में भी नायक पात्र उदय अपाहिज है। वह अपनी पंगुता के ही कारण अपनी किसी इच्छित वस्तु तक पहुँच नहीं पाता, अपने समवयस्कों के प्रति इसलिए वह उग्र हो जाता है। उदय की

आंतरिक रिक्तता की अभिव्यक्ति यह कथा है। परिजन सभी उपचार, मन्नतें, प्रसादी, राख सिर लगाना, व्यायाम, मालिश, सूर्यस्नान आदि उदय को लेकर कर लेते हैं और अंततः उदय की मानसिक स्थिति का वर्णन देखिए–

''पहेला तो उदयनी आंखोमां तेना हलन–चलनमां, तेना चित्कारमां फरियादनो स्वर संभळातो : मारा वीतेलां वर्षोनुं शुं? मारी उपलब्धिओनुं शुं? आ पृथ्वी पर में पाडेलां अेक–अेक पगलांनुं वळतर मारे जोईअे।''[1]

(पहले तो उदय की आँखो में, उसके हिलने–डुलने में, उसकी चीख में शिकायत के स्वर सुनाई देते– मेरे बीते हुए वर्षो का क्या? मेरी उपलब्धियों का क्या? इस पृथ्वी पर पड़ने वाले मेरे एक–एक कदम का मुनाफा मुझे चाहिए।)

इसी अपंग उदय को लेकर उसके माँ–बाप, जो जैसा बताते हैं वैसी अंध श्रद्धापरक विधि करते हैं। कबूतर की हत्या कर उसका पंख पुत्र को बाँधा जाता है। पर उदय के अकेलेपन का क्या? आखिर धीरेन्द्र महेता उपन्यास के उद्देश्य में मनुष्य का धर्म यही कहते हैं जिसे पात्र उदय स्वगत महसूस करता हैः

''जीववानुं परिणामरूपे जे कंई प्राप्त थाय ते स्वीकारी लेवुं.. हुं कदी वेदना साथा समाधान करवामां मानतो ज नथी। अेने चरमबिंदु सुधी जीरवुं छुं। मानुं छुं के आपणे आपणो आनंद वेदनाना रूपमां ज माणी शकीये।''[114]

(जीने के परिणामस्वरूप जो कुछ भी मिले, उसे स्वीकार कर लेना चाहिए... मैंने कभी वेदना के साथ समाधान करना नहीं चाहा, इसे चरमबिंदु तक जीता हूँ। मानता हूँ कि हम अपना आनंद वेदना के रूप में ही मना सकते हैं।)

धार्मिक अलौकिक चमत्कार के तहत 'काफलो' उपन्यास (1988) की काला भविष्य जानने की अलौकिक शक्ति रखती है। उपन्यास 'समुद्रान्तिके' (1993) में भैंस घोड़े को दरियापीर के रूप में स्वीकारते हुए बताया हैः

''ब्रह्मज्ञान थवा माटे कोई व्यक्तिनी हाजरीनी जरुर नथी। वांचवुं, विचारवुं, जप–तप, भजन–कीर्तन, ध्यान, सेवा–पूजा बधुं पोतानी मेळे ज करवुं पड़े छे। गुरुकृपा, ईश्वरकृपा, मंत्रकृपा, ग्रंथकृपा गमे ते अेक थाय तो अंतरना द्वार खुली जाय, मार्ग देखाया पर चालवुं तो जाते पड़े ने?''[115]

(ब्रह्मज्ञान प्राप्त होने के लिए किसी व्यक्ति की उपस्थिति अनिवार्य नहीं। अध्ययन, वाचन, विचार, जप, तप, भजन, कीर्तन, ध्यान, सेवा, पूजा सभी खुद ही प्रयत्न स्वरूप करना पड़ता है। गुरुकृपा, ईश्वरकृपा, मंत्रकृपा, ग्रंथकृपा सभी एक हो जाएँ तो हृदय के द्वार खुल जाते हैं, मार्ग दिखाई पड़ता है, पर चलना तो खुद ही पड़ता है।)

'प्रेम' के संदर्भ में भी ईशान रहस्य का पर्दा हटाते हुए कहता हैः

''लागणीने तुच्छकारथी न जोवाय रजत! ईश्वरना आ लीलामय जगतनी अे पण अेक माधुरी छे... अेनामां डूबी न जा पण अेनुं सन्मान कर।''[116]

(प्रेम को तुच्छ दृष्टि से मत देखो रजत! ईश्वर के लीलामय जगत की यह भी एक माधुरी है... उसमें डूबो मत, पर इसका सम्मान करो।)

धर्म और ईश्वर के बारे में अस्तित्ववादी उदयन की मान्यता है कि– ''ईश्वर माणसना विश्वासमां जीवे छे अने माणसनी साथे अे मंदिरमां प्रवेश करे छे। माणसनी गेरहाजरीमां मंदिरोने तुं कब्रस्तान कहे तो मने वांधो नथी।''[1]

(ईश्वर मनुष्य के विश्वास में जीता है और मनुष्य के साथ वह मंदिर में प्रवेश करता है। मनुष्य की अनुपस्थिति में मंदिर को तू कब्रस्तान कहे तो मुझे कोई एतराज नहीं।)

परन्तु आधुनिक मध्यमवर्गीय उदयन ईश्वर के विषय में यह भी स्पष्टतः स्वीकार करता है कि–

''ना, परंतु हुं अेनामां नहोतो मानतो ते मानता मां हवे हुं नथी मानतो। मारी धारणा टूटी छे, हवे हुं नास्तिक नथी के आस्तिक पण नथी, संशयात्मा छुं।''[118]

(नहीं, परन्तुं मैं इसमें नहीं मानता, मान्यता में अब नहीं मानता। मेरी धारणा टूट चूकी है, अब मैं न नास्तिक हूँ और न ही आस्तिक, संशयात्मा हूँ।)

सांस्कृतिक स्थितिः

भारतीय संस्कृति में प्रेम, जप, तप, दया, क्षमा, त्याग, सेवा, परोपकार आदि को मानव मन का आन्तरिक गुण बताया गया है। इन गुणों के अवमूल्यन ने सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक स्थिति की नींव हिलाई है। संस्कृति के उत्थान–पतन में मनुष्य के आचार–विचार की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है।

लेखक ध्रुव भट्ट का उपन्यास 'समुद्रान्तिके' (1993) सांस्कृतिक उत्थान–पतन की दृष्टि से एक सफल उपन्यास रहा है। इसे गुजराती साहित्य परिषद की ओर से वर्ष की सर्वश्रेष्ठ कृति का पुरस्कार भी मिला है।

कथा का नायक 'विनायक' सौराष्ट्र के तट पर एक बिन–उपजाऊ जमीन के सर्वेक्षण के लिए जाता है ताकि उस भूमि पर केमिकल जॉन स्तापने की सहमति मिल सके। काम सरकारी है इसलिए उसे कुछ महिने के प्रवास पर वहाँ रुकना पड़ता है। माह के दौरान यहाँ उसे बड़े विचित्र सांस्कृतिक अनुभव होते हैं। लोक–संस्कृति और नगर संस्कृति का अंतर उसे उन लोगों के आचार–व्यवहार से जानकर वह आश्चर्य पाता है। छोटी–सी कृषक बाला के सामने कुएँ से पानी लेने की अनुमति पर वह उसकी सहजता (कि यहाँ कोई जातिवाद जैसी भावना है ही नहीं) देखकर लज्जित होता है। जब कहती हैः ''ते लै ले ने, आंय तने कोई ना नो पाडे।''[119] (तो ले ले ना, यहाँ तुझे कोई मना नहीं करेगा।)

यही नहीं, अनजान प्रवासी को पत्नी पति से बिना पूछे ही सहजतापूर्वक आतिथ्य और रात रूकने का आग्रह करती है यह जानकर भी विनायक को आश्चर्य होता है, परिवार की नारी वात्सल्यपूर्वक कहती हैः

'तुं रघवाया कां था छे? आंय कोई खोट नथ्य... तारे रेवुं होय त्यां लगण रेजे।''[120]

(तुम परेशान क्यों होते हो? यहाँ कोई कमी नहीं... तुम्हें रहना हो तब तक यहाँ रहना।)

वे उन बुद्धिजीवी विनायक, गिरिवल, पराशर आदि को आतिथ्य–स्वरूप कभी रोटी, छाछ, प्याज, सब्जी आदि प्रेम से पहुँचाती है। विनायक सोचता है–

''सांभळ्युं तमे? आ सांभळ्युं? हजारो वर्षो पूर्वे तमे घडेली पाप–पुण्यनी व्याख्याओथी पर, तमे रचेला नीति–नियमोथी पर, पोताना हृदयने साचुं लागे ते आचरनारी आ दूबळी–पातळी स्त्रीओ पोतानां बे–चार वाक्यो वडे तमारी सत्कर्म–दुत्कर्मनी कल्पना समूची उलटावी नाखी छे।''[121]

(सुना तुमने? ये सुना? हजारों वर्षों पूर्व बनायी पाप–पुण्य की व्याख्याओं से परे, तुम्हारे रचे हुए नीति–नियमों से परे, स्वयं के हृदय को जो सच्चा लगे वही आचरण को व्यवहार में लानेवाली इस दुबली–पतली स्त्रीने अपने दो–चार वाक्यों से तुम्हारी सत्कर्म–दुत्कर्म की कल्पनाओं को पूरी तरह से उलट दिया है।)

आज भी लोक संस्कृति अपने परम्परित मूल्यों की वजह से नगर संस्कृति की बौद्धिक मूल्य बदलाव की प्रगति को परास्त करने की ताकत रखती है। जीवन की सहजता (पानी, कुएँ, दास, खेत, पक्षी, नदी

आदि) के साथ आत्मीयता की छवि लोकजीवन की रंगीन छटा है, जबकि नगर संस्कृति की भौतिक–वैज्ञानिक–औद्योगिक संस्कृति से क्या मिला? शोर, प्रदूषण आदि की फलश्रुति?

एक तीसरी अधुनातन संस्कृति भारतीय प्रवासी (NRI) की भी देखी जा सकती है। गुजरात का प्रवासी भारतीय योगेश अपने गर्लफ्रेन्ड पेगी के साथ भारत आता है, और बदले हुए गुजरात को देखता है कि यहां लड़कियाँ कितनी स्वच्छंद, यहाँ के स्वच्छंद मानवीय व्यवहार में आचारगत–विचारगत कितना परिवर्तन हो गया है। स्वयं योगेश भी पूर्णतः भारतीय कहाँ रहा? भले ही वह लच्छेदार दहेज विरोधी भाषण दे। एक से बारह राशियों की लड़कियाँ कन्या पसंदगी के दौरान देख डालता है, मसलन कोई वस्तु को पसंद कर रहा हो।

'अमृता' उपन्यास के पात्र नायक अस्तित्ववादी उदयन और अनिकेत आखिर व्यक्ति की कैसी स्वतंत्रता पर सोचते हैं?

''अे समजे छे के आत्मानी अनंतता, विश्वक्रमनी शास्वतता, स्वर्ग–नरकनी दैवी योजना वगेरे विशेना परंपरागत रुढ़ ख्यालो, धर्म समाजना धोरणोअे स्थापित–प्रतिष्ठित करेलां वारसागत जीवनमूल्यो आधुनिक काळना बुद्धिशील मनुष्य माटे अर्थहीन अने अप्रस्तुत बनी गयां छे। ते पाश्चात्य साहित्य अने दर्शनना संपर्कमां आव्या पछी अेवुं माने–मनावे छे के ... पोताना अस्तित्वथी निरपेक्ष अेवी कोई वास्तविकता माणसने खपती नथी... ईश्वरना नामे जमा करावेलां अे बधां अंतिम सत्योने माणसना अस्तित्व साथे कशी लेवा–देवा नथी।''[122]

(ये समझते हैं कि आत्मा की अनंतता, विश्वक्रम की शाश्वतता, स्वर्ग–नर्क की दैवीय योजना आदि विषय के रुढ़िवादी ख्याल, धर्म समाज के ठेकेदारों द्वारा स्थापित किए पुश्तैनी जीवन–मूल्य आधुनिक समय में बुद्धिशाली मनुष्य के लिए अर्थहीन और अप्रस्तुत बन गए हैं। पाश्चात्य साहित्य और दर्शन के संपर्क में आने के बाद ऐसा मानते और मनवाते हैं कि.... खुद के अस्तित्व से निरपेक्ष ऐसी कोई वास्तविकता मनुष्य जीवन को ग्रहण नहीं... ईश्वर के नाम से जमा इन सभी अंतिम सत्यों का मानव–अस्तित्व के साथ कोई लेना–देना नहीं।)

इस प्रकार आधुनिक बौद्धिक मनुष्य ने धर्म और संस्कृति के विचारों को ही अर्थहीन सिद्ध कर दिया। और हम देखते भी हैं कि 'तिराड' उपन्यास में पूजा पटेल के दो बेटे (बलदेव और भगा) के बीच

जमीन झगड़े के बीच 'बचाव' करने आया हरिजन सोमा मारामारी के दौरान चोट खा जाता है। उसकी पत्नी जोईती गरीबी में भी उठा–पटक, पैसे–डॉक्टरी के चक्कर में पड़ जाती है। इधर बलदेव 'जोईती' पर बुरी नजर भी डालता है। क्या यही रह गई है मध्यवर्गीय संस्कार और संस्कृति? या मनुष्य का धर्म? क्या मिलता है पत्नी जोईती को – पति सोमा की अकाल मृत्यु?

''सोमाना अंतिम संस्कार ने अंते सूर्यास्तनी वेळाअे 'खलासीनुं आकाश' डहोळाई गयुं, फीणना उछाळा मारता मोजामां केटकेटली होडीओ डूबी गई।''[123]

(सोमा के अंतिम संस्कार के अंत में आकाश ढूल गया, झाग के उछाल में किनारे खड़ी कितनी नावें डूब गई।)

इस प्रकार जीवन–मूल्यों के क्षरण ने कितनी ही जिंदगियाँ बर्बाद कर दी हैं।

आधुनिक संस्कृति के पतन स्वरूप ही आज नारी कल्याण केन्द्र, अनाथ केन्द्र, वृद्धाश्रम, मेडीटेशन केम्प आदि खुल रहे हैं। स्वतंत्रता, स्वच्छंदता, लालसा आदि ने उसे संत्रास, अलगाव, घुटन और विवश जीने को ही बाध्य किया है।

उपन्यास 'आगन्तुक' का ईशान इसलिए संसारी जगत का बार–बार चिंतन प्रस्तुत करता है। वह कहता है– ''तृष्णानो प्यालो होठ लगी आवे ने दूर सरी जाय अे ज नियति छे, अने अेने स्वीकारवानुं काम बहु अघरुं छे।''[124]

(इच्छाओं का प्याला होठों से लगकर सरक जाता है, यही भाग्य है। इसे स्वीकार करने का कार्य बहुत कठिन है।)

भारतीय संस्कृति का अत्यंत व्यापक रूप है। उसे किसी एक धर्म, एक समुदाय, एक वर्ण, वर्ग या समूह से नहीं जोड़ा जा सकता है। यह विश्व में फैली है, यह 'मानववाद' के सिद्धांत को लेकर चलती है। यहाँ राष्ट्रीयता भी सांस्कृतिकता को ही लेकर चली है। चार धाम, बारह शक्ति ज्योतिर्लिंग भारतीय संस्कृति की आधारशिला बने। यानि अध्यात्म की भूमि पर ही संस्कृति निर्मित हुई। यहां संस्कारों को तीन रूपों में देखा गया है। धार्मिक अनुष्ठान आदि के रूप में, सांस्कृति परिप्रेक्ष्य के विकासक्रम में और सामाजिक पहलु के रूप में लोक व्यवहार आदि। उपन्यास 'प्रियजन' की चारू अपनी भारतीय संस्कृति शुरु से अंत तक सहेजती है। वह पति के घर में सम्मानपूर्वक अपने अधिकारों की रक्षा करती है और अपने कर्तव्य निभाती है। अकेले ही वैधव्यपूर्ण जीवन क्यों न जीना पड़े। इसी प्रकार 'नाईटमेर' उपन्यास की नायिका नियति गर्वपूर्वक कहती है:

''हुं मारा घरमां गमे ते रीते मारा पति पासे स्वतंत्र रीते, ऊँचा सादे, नीचा सादे, फावे ते रीते केम न बोलुँ? आ मारुं घर छे ने तमारा पर मारो बधो अधिकार छे। बीजानी वात हुं न जाणुं।''1125

(... मैं अपने घर में जैसा चाहूँ, रहूँ। मेरे पति के पास स्वतंत्र तरीके से, ऊँची आवाज से या नीची आवाज से या फिर मुझे जैसा लगे वैसे क्यों न बोलुं? ये मेरा घर है और तुम पर मेरा पूरा अधिकार है। दूसरों की बात मैं नहीं जानती।)

प्रेम, सुख–दुःख आदि मंतव्यों में भी साटोत्तरी उपन्यास में बदलाव देखा जा सकता है। मध्यमवर्गीय प्राध्यापक अनिकेत अमृता से कहता है:

''प्रेम प्राप्त थतो होय छे... प्रेमीने प्राप्त कर्या विना पण प्रेम प्राप्त थई शके।''[126]

(प्रेम प्राप्त होता है.. प्रेम को प्राप्त किए बिना भी प्रेम पाया जा सकता है।)

''... हुं कामना न करत, कामना करवी अे तो स्वार्थने सूचवे छे, कामनावश बीजाना स्वातंत्र्यने भूली जाय छे, समर्पणमां नारीना चारित्र्यनुं उन्नयन जोवामां आवे छे... पण समर्पण शेनुं? स्वातंत्र्यनुं के अहंनुं? बीजाना स्वातंत्र्यनो संपूर्ण स्वीकार अेटले प्रेम।''[127]

(... मैं कामना नहीं करता। कामाना करना स्वार्थ को सूचित करता है। कामनावश दूसरों की स्वतंत्रता को भूला दिया जाता है। समर्पण में नारी के चरित्र का विकास दिखाई देता है। पर समर्पण किसका? स्वतंत्रता का या अहं का? दूसरे की स्वतंत्रता का संपूर्ण समर्पण यानी प्रेम।)

इस प्रकार 'अमृता' उपन्यास में रघुवीर चौधरी ने प्रेम में समर्पण कामनारहित सांस्कृतिक मूल्यों का पक्ष लिया है। परंतु आज बढ़ती जा रही प्रेम की स्वच्छंद घटनाएँ साठोत्तरी उपन्यासों का प्रमुख विषय भी बनती हैं। मध्यमवर्गीय युवक–युवतियों के मुख से स्वच्छंद प्रेम की बातें, एक–दूसरे को धोखा देना जैसी सांस्कृतिक विरुद्ध घटनाएँ भी इनमें चित्रित हैं।

योगेश और भावना की परस्पर खुली बातचीत समाज और संस्कृति की आधुनिक परम्परित शैली का उपहास उड़ाती है:

''विश्वनो सौथी शक्तिशाली समाज कयो?

अमेरिका वळी।

अमेरिकामां सौथी वधु शक्तिशाळी माणस कोण?

जिमी कार्टर–प्रेसीडेन्ट वळी, केम?

तमे शुं समज्या?

वेल, मने तो हिन्दूईज्ममां बहु अपील नथी। आपणी प्रजा हजी बहु बेकवर्ड छे। प्रोग्रेस विना हाई थिंकींगनो कोई मीनींग नथी।''[128]

(विश्व का सबसे शक्तिशाली समाज कौन–सा है?

अमेरिका, निःसंदेह।

अमेरिका में सबसे शक्तिशाली मनुष्य कौन है?

जिमी कार्टर–प्रेसीडेण्ट, निःसंदेह। क्यों?

तुम क्या समझे?

अच्छा, मुझे तो हिन्दुईज़्म (भारतीयत्व) में बहुत झुकाव नहीं। अपनी प्रजा अभी भी बेकवर्ड है। प्रोग्रेस बिना हाई थिंकिंग का कोई अर्थ नहीं है।)

इस प्रकार मध्यमवर्ग या प्रवासी भारतीय जैसे लोग स्वयं भारतीय संस्कृति को अविश्वास और संदेह की दृष्टि से देखते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि आधुनिक पीढ़ी के लिए भारतीय संस्कृति और नैतिकता का अर्थ 'मूल्य' न रहकर मात्र 'मूल्य' (रूपये/पैसे) रह गया है जिसकी वजह से वह संबंधों के संवेदनों की परवाह नहीं करता। संस्कृति का पतन सबसे जटिल समस्या बनकर मध्यमवर्ग को विचलित किए हुए है।

हिन्दी और गुजराती उपन्यास में धार्मिक और सांस्कृति साम्य–वैषम्यः

मानव–जीवन में समाज, धर्म, संस्कृति, अर्थ सभी का बड़ा महत्व है और मनुष्य इन सभी में सभ्यता के आधार पर धीरे–धीरे विकसित हुआ है। साठोत्तरी गुजराती–हिन्दी उपन्यासों ने मध्यमवर्गीय मानव की संस्कृति को बड़ी ही बारीकी से पेश किया है। समाज में धर्म और संस्कृति का रूप साठ के दशक के बाद काफी बदला हुआ है, क्योंकि शिक्षा के कारण मानव समाज का बौद्धिक विकास अधिक हुआ है। इसलिए धर्म की रुढ़ियाँ स्वतः ही धीरे–धीरे मिटने लगी और संस्कृति अपने आधुनिक रूप में व्यक्त होने लगी। फिर भी कई पुराने धार्मिक अनुष्ठान आज भी मध्यमवर्ग में पाये जाते हैं। जब भी मनुष्य अपने दुःखों से पीड़ित होता है तो उसे ईश्वर की शरण, व्रत, उपवास का तरीका ही उसे पसंद आता है।

लेकिन इश्वर का भय कितना और कहाँ तक? यह प्रश्न मध्यमवर्ग को आज भी विचलित करता

है। गुजराती के 'ऊर्ध्वमूल' उपन्यास में बौद्धिक मनुष्य के सामने इसी वैचारिक उलझन का खुलासा मिलता है।

''भयनां घोर जंगलमां ईश्वरना भयने अलग शी रीते तारववुं? ... ईश्वर जेवुं आ जगतमां कोई होय तो आपणे कां तो तेनाथी हंमेशा डरता रेहवानुं, तेनी खुशामत करवानी, तेनी समक्ष लाचारी अनुभववानी।''[129]

भारत में धार्मिक तौर पर जातिगत विभिन्नता के कारण धार्मिक विविधता भी पाई जाती है। क्योंकि यहाँ हिन्दू–मुस्लिम, ईसाई–पारसी सभी के अपने–अपने धर्म–कर्मकाण्ड, त्यौहार आदि हैं।

जैसे–हिन्दू परिवार चण्डीपूजा, पुराणपूजा आदि में विश्वास रखता है। 'फेरो' उपन्यास का नायक विनायक अपनी पत्नी के साथ सूर्यमंदिर इसलिए जाता है क्योंकि उसका बेटा गूंगा है इसलिए मन्नत माँगनी है। ठीक उसी तरह हिन्दी उपन्यास 'गेंडा' (शिवानी) में भी नायिका अपने पति को प्रेमिका के वशीकरण से छुड़ाने के लिए पीर की दरगाह में जाकर मन्नत रखती है।

मध्यमवर्गीय आधुनिक पीढ़ी धर्म, ईश्वर आदि बातों पर कम ही विश्वास करती है। जैसे 'मछली मरी हुई' मे पात्र निर्मल पद्मावत धर्म को इसलिये नहीं मानता क्योंकि उसका मानना है कि– ''धर्म अंधा बनाता है। ईश्वर पर भरोसा करते ही अपनी शक्ति पर अनास्था हो जाती है।''[130]

साठोत्तरी गुजराती और हिन्दी उपन्यासों में हम देखते हैं कि मध्यमवर्गीय पुरानी और नई पीढ़ी में द्वंदाभास है। पुरानी पीढ़ी अंधश्रद्धालु और कर्मकांडों से युक्त जीवन को मानती है जबकि नई पीढ़ी धर्म की धज्जियाँ उड़ाती है।

'मछली मरी हुई' का पद्मावत इसीलिये धर्म का विश्वास करते हुए भी अपने शयनकक्ष में काली की मूर्ति रखता है। यानि धार्मिक द्वंद्वशीलता के बावजूद मध्यमवर्ग ने इसे स्वीकार भी किया है। कहता है–

'अनर्गमन में धार्मिक भावना, भय सुरक्षित है, अब भी धर्म नहीं मिटा है।''[131]

अंधविश्वास हो या अंधश्रद्धा, भारतीय संस्कृति में इतने रचे पचे हुए हैं कि मध्यमवर्गीय समाज उससे पूर्ण छुटकारा पा ही नहीं पाया है। हाँ, साठोत्तरी उपन्यासों में बौद्धिक मध्यमवर्ग की वैचारिक क्षमता की बढ़ोत्तरी धर्म और संस्कृति दोनों रूपों में देखी जा सकती है। मध्यमवर्गीय परिवारों में यह बात बिलकुल समझ में आ चुकी है कि 'ईश्वर प्रेम है'। अतः प्रेम के स्वरूप का उदान्तीकरण इन साठोत्तरी उपन्यासों की गरिमा भी बना है। जैसे 'अमृता' में तीनों पात्र के अन्तरंग संबंधों में 'प्रेम' ईश्वरीय कोण भी उदात्त हुआ है। स्वयं पात्र उदयन 'अमृता' से कहता है– ''ईश्वर माणसना विश्वासमां जीवे छे अने माणसनी साथे जे

मंदिरमां प्रवेश करे छे।''[132]

(ईश्वर मनुष्य के विश्वास में जीता है। एक मनुष्य के साथ यह मंदिर में प्रवेश करता है) उपरोक्त यही बात अज्ञेय के 'अपने–अपने अजनबी' उपन्यास में चित्रित है, पात्र योके का कथन दृष्टव्य हैः

''सजीव उपस्थिति का नाम ही ईश्वर है। कोई भी उपस्थिति ईश्वर है। क्योंकि नहीं तो उपस्थिति हो ही कैसे सकती है?''[133]

अतः हम पाते हैं मध्यमवर्गीय युवापीढ़ी इतनी नास्तिक भी नहीं हुई। कदाचित् यह भारतीय संस्कृति के जड़वत् हुए संस्कार ही हैं। 'किंबल्स रेवन्सवूड़' का नायक योगेश अपने परिवार, पिता, अंकल, अपनी संस्कृति का सम्मान करता है। यहाँ तक कि ज्योतिष पुस्तक ज्ञान के आधार पर 12 लड़कियाँ देखता है और उसके बाद ही विवाह करता है। गुजरात की संस्कृति की अपनी पहचान है, नवरात्रिपूजन, उत्सव–त्यौहार के रंग, प्रेम, स्वच्छंदता, धार्मिक सत्संग आदि मध्यमवर्गीय परिवारों का जीवन है। 'आगन्तुक' उपन्यास का नायक संन्यासी और संसारी जीवन जी लेने के अनुभव उपरांत ही कह पाता है कि–

''लागणीने तुच्छकारथी न जोवाय रजत! ईश्वरना आ लीलामय जगतनी ओ पण ओक माधुरी छे।''[134]

(प्रेम को तुच्छ दृष्टि से न देखो रजत! ईश्वर की इस लीलामय जगत की वह भी एक माधुरी है।)

हिंदी उपन्यास 'बारह घण्टे' की नायिका अपने पति से बेहद प्यार करती है और मरने के बाद उसकी सद्गति के लिए मन से प्रार्थना करती है।

इस प्रकार साठोत्तरी हिन्दी–गुजराती उपन्यासों में धर्म, विश्वास, अंध विश्वास, संस्कार इत्यादि सहज ही रूप में आए हैं। द्वन्द्वशील पात्रों की स्थितियाँ भी सहज ही सृजित हुई हैं। जैसे हिन्दी उपन्यास 'मन वृंदावन' का पात्र सुबन्धु समाज की परम्परा को जीता है, धार्मिक यात्रा में शामिल होता है मगर यह भी मानता है कि–

''इस धर्म–कर्म से कुछ लेना–देना नहीं।''[135]

इसका मतलब यह है कि सभ्यता की भौतिक उन्नति के साथ–साथ मानवमन में नास्तिकता भी बढ़ती गई है। अतः आस्तिक–नास्तिक की परिधि ने ही मध्यमवर्गीय परिवारों की स्थिति में द्वन्द्वशीलता बोयी है। 'अमृता' में रघुवीर चौधरी इसलिए उदयन के माध्यम से स्वीकार करते हैं कि–

''मारी धारणा तूटी छे, हवे हुं नास्तिक नथी के आस्तिक पण नथी, संशयात्मा छुं...''[136]

बदली हुई मध्यमवर्गीय परिस्थितियों मे 'संस्कृति' की परिभाषा भी बदली, पाप–पुण्य, सुख–दुःख,

अच्छा–बुरा, भाग्य–पुरुषार्थ, मुल्य–अवमूल्यन सभी जैसे परिवर्तित हुए। हिन्दी उपन्यास 'उखड़े हुए लोग' का शरद तो साफ़ कहता है– ''कल के पाप और पुण्य की परिभाषाएँ ओछी ओर छिछली हो गई हैं और आनेवाले कल पर भी हमें विश्वास नहीं।''[137]

नियति और भाग्य पर मध्यमवर्गीय परिवार विश्वास करता है। 'भूले बिसरे चित्र' का पात्र प्रभुदयाल कहता है– ''एक तबाह होता है उससे दूसरा लाभान्वित होता है। यह नियति का विधान है। जिसे कोई बदल नहीं सकता। ऐसे ही चलता रहेगा।''[138]

यही बात गुजराती उपन्यास 'आगन्तुक' का ईशान कहता है–

''तृष्णानो प्यालो होठ लगी आवे ने दूर सरी जाय अे ज नियति छे।''[139]

सांस्कृतिक धरातल पर विभिन्न धर्म, जाति, स्वभाव, विचार भिन्न होते हुए भी हम पाते हैं कि साठोत्तरी उपन्यासों में 'मानववाद' के समर्थन की एक दृष्टि है। कोई न कोई पात्र के मुख से कहलवाकर लेखक मानवीयता का स्वरूप अवश्य उपस्थित करता है। ये विशेषता किसी न किसी मध्यमवर्गीय पात्र का अवश्य चित्रांकन करती है। मानवीयता के गुण प्रेम, परोपकार, त्याग, तप, दया, क्षमा आदि से पूरित होते हैं। बौद्धिक मध्यमवर्गीय पात्र 'अनिकेत' द्वारा रघुवीर चौधरी ने कहा है– ''प्रेम तो प्राप्त थतो होय छे।''[140] (प्रेम तो प्राप्त होता है।)

कामनारहित त्यागपूर्ण जीवन ही प्रेम का रुपांतरण है। सच्चा जीवन है। प्रेम–तप की ऐसी व्याख्याएँ भारतीय संस्कृति के उदात्तीकरण की पहचान बने हैं। गुजराती उपन्यास 'प्रियजन' की 'चारू', 'आगन्तुक' के 'ईशान' में इसे सहज देखा जा सकता है। भारतीय संस्कृति ग्राम्य से शहर और शहर से वैश्वीकरण की ओर विकसित हुई है। अतः परस्पर संस्कृतियों के मिलन बिंदु को भी साठोत्तरी उपन्यासकारों ने यथार्थमयी ढंग से चित्रित किया है। जैसे 'जिन्दगीनामा' उपन्यास में कृष्णा सोबतीजी ने विभाजन–पूर्व के पंजाब की सांस्कृतिक तासीर को व्यक्त किया है। इसी प्रकार गुजराती उपन्यास 'किंबल रेवन्सवूड' प्रवासी भारतीय स्वरूप अमेरिका–शिकागो–गुजरात–अहमदाबाद के जनजीवन की नवीनतम झाँकी पेश करती है। संस्कृति बदलाव अथवा मिश्रण के कारण 'भाषा–संस्कार' के परिवर्तन भी पात्रों के व्यवहार में झलकते हैं। जैसे 'जिंदगीनामा' का पंजाबी टोन हिन्दी के साथ मिश्रित है–

''चान्नी ने सजरी लिपाई से खेत–खलिहान रुख–वृक्ष सब उजरा–उजला दिए।''[141]

इसी प्रकार गुजराती–अंग्रेजी मिश्रित भाषा का यह विकसित परिवर्तन देखा जा सकता है। योगेश–कीर्ति का

संवाद–

''वेल, रस खरो, अंधरस नहीं।''

''सेक्स कई बहु इम्पोर्टन्ट वस्तु नथी, अेक बीजा माटे मान होवुं जोइअे।''

''करेक्ट।''[142]

इस प्रकार तुलनात्मक रूप में हम देखते हैं कि गुजराती–हिंदी साठोत्तरी उपन्यास अपने समय के सच को धार्मिक–सांस्कृतिक बदलाव को बड़ी सशक्तता से व्यक्त करते हैं और इस बहाने मध्यमवर्गीय परिवारों की संवेदना, वैचारिकता के बदलाव को रेखांकित करते हैं।

विवेच्य हिन्दी उपन्यासों में आर्थिक स्थितिः

अर्थ यानी आर्थिक आधार, मानव जीवन का कभी एक हिस्सा हुआ करता था, बतौर जीवन–यापन मात्र। आज वह मानव–जीवन का सम्पूर्ण हिस्सा बन चुका है। वैश्वीकरण इसका प्रमाण है। देश–विदेश का परस्पर व्यापार इसकी परिणति है।

आज के आधुनिक युग में धन की शक्ति सर्वोपरि है। आज का व्यक्ति धर्म के पीछे अन्धा–धुन्ध दौड़ लगाता है। इसी अर्थ के पीछे व्यक्ति अपना ईमान, आत्मसम्मान, प्यार, यहाँ तक कि शरीर बेचने को भी तैयार हैं। आर्थिक विषमता की समस्या के कारण अपने नैतिक मूल्यों को भी पतन के कारागार में धकेल देता है। डॉ. सुषमा धवनने कहा हैः ''उपन्यास का उद्देश्य धन की शक्ति के फलस्वरूप व्यक्ति के नैतिक पतन को चित्रित करना है। पूँजीवाद युग में धन की शक्ति ने व्यक्ति के रूप को कितना विकृत बना दिया है इसे चित्रित कर यह सिद्ध किया गया है कि मानव आर्थिक परिस्थितियों का दास है।''[143]

आर्थिक विषमता के कारण आज मध्यमवर्ग को महँगाई, बेरोजगारी, निर्धनता आदि समस्याओं का सामना करना पड़ता है। डॉ. पारसनाथ मिश्र ने लिखा है : ''आर्थिक तत्व पहले से ही समाज में नियामक का काम करता चला आया। आर्थिक विषमता ही समाज के तमाम संघर्षों के मूल में दिखाई पड़ती है। .... आर्थिक समृद्धि पुराने नैतिक मूल्यों को चुनौती दे सकती है।''[144]

'झूठा सच' उपन्यास में मध्यमवर्गीय समाज में आर्थिक विषमता के कारण बेकारी की समस्या को दर्शाया है। इस उपन्यास की तारा आर्थिक विषमता के कारण इंटर से आगे नहीं पढ़ सकती। ''विद्या पैसे

के बिना अप्राप्य है।'' 'सती मैया का चौरा' उपन्यास में मुन्नी को भी हाईस्कूल के बाद अपनी पढ़ाई छोडकर मद्रास जाना पड़ता है। मन्नो भी अपनी कमजोर आर्थिक परिस्थिति के कारण खेती–बाड़ी के साथ–साथ शक्कर की मिल में केन इन्स्पेक्टर का काम करता है। 'आग की प्यास' जो रांगेय राघव रचित उपन्यास है, जो ग्रामीण पृष्ठ भूमि पर आधारित है। इसमें अर्थ की सत्ता को सर्वोपरि बताते हुए लिखा है: ''तेरे पास मैं धन के जरिये ही पहुँच सकता था, इसीलिए मैंने धन कमाया और तेरे पास आ गया।''[145] 'आखिरी आवाज' में रांगेय राघव ने आज की आर्थिक समस्या को चित्रित किया है। अर्थ की महत्ता स्थापित करते हुए इस उपन्यास का पात्र प्यारे राम कहता है: ''भाई, समय बड़ा खराब है किन्तु वर्तमान समय में न्याय अवश्य अभी तक अपने स्थान पर स्थापित है। अतएव आप लोग जाइए और अपने साथ कुछ धन ले आइए, क्योंकि भाई, खाली हाथ चलने का कहीं महत्व नहीं है।''[146]

शहर के मध्यमवर्ग परिवार अपर्याप्त धन की स्थिति के कारण अनेक मानसिक कुंठाओं में जीने के लिए विवश कर देती है। आर्थिक विषमताओं के कारण मध्यमवर्ग की व्यक्तियों की सभी शक्तियाँ घटती–बढ़ती हैं। पैसों के अभाव में 'आखिरी दाँव' का जीवनराम बीस हजार रूपए के लिए अपनी पत्नी का देह–विक्रय करता है। 'आखिरी दाँव' का रामेश्वर कहता है– ''हम सब पैसे के गुलाम हैं। धन हमारा इश्वर है, हमारा अस्तित्व है। इस पैसे की दुनिया में न पाप है, न पुण्य है, न प्रेम है, न भावना है, जो कुछ है वह धन है।''[147]

भगवतीचरण वर्मा ने अपने दूसरे उपन्यास में दिखाया है कि मध्यमवर्ग आर्थिक समस्या के कारण बेमानी पर भी उतर सकता है। अर्थ के कारण पुत्र का इलाज नहीं हो पाना, बच्चों की शिक्षा नहीं हो पाती, पुत्री का विवाहन नहीं होता, इन वजहों से केशव अपने ईमान को बेचता है और यह रिश्वत का रूप धारण करता है। सेठ रामकिशोर कहते हैं: ''केशवबाबु, यहाँ धर्म और ईमान को बेचने की बात नहीं उठती, यह तो सहायता के आदान–प्रदान का प्रश्न है।''[148]

'अमृत और विष' का मध्यमवर्गीय रमेश अपनी बहन के विवाह में उच्च वर्ग की बराबरी निमित्त अपनी आर्थिक स्थिति से अधिक खर्च देने पर सोचता है: ''इन कैपीटलिस्टों के कम्पिटीशन में हम जैसों की मिट्टी पलीद हो गई है।''[149] दहेज और दिखावा इस उपन्यास में एक अभिशापित कुरीति बनता है।

मध्यमवर्ग हमेशा आधुनिकता का दिखावा करता है। उच्चवर्ग की होड़ में लगा रहता है। उसके सपने देखता है, लेकिन आज के समाज में प्रवर्तमान औद्योगिकरण, पूँजी विनियोजन और वैज्ञानिक

टेक्नोलॉजी के कारण उनकी जो आर्थिक स्थिति है वह दयनीय हो चूकी है। उनकी महत्वकांक्षाएँ केवल सपना बन गई है। आर्थिक विषमता के कारण उनकी आकांक्षाओं को पूर्ण न होते देख उनमें कुंठा, घुटन और नैराश्य की भावना बढ़ती हुई दिखायी देती है।

'यह पथबन्धु था' का मध्यमवर्गीय नायक श्रीधर पूँजीवाद, स्वातंत्र्य संग्राम, पत्रकारिता में 25 वर्ष तक उलझा रहता है। लेकिन इन 25 वर्षों में उसका सारा परिवार नष्ट हो जाता है। माता–पिता आर्थिक तूट के कारण स्वर्ग सिधार जाते हैं। पत्नी क्षयरोग से लड़ती है। बड़ी लड़की को ससुरालवालों ने मार मारकर माँ के पास वापस भेज देते हैं। श्रीधर अपने परिवार की स्थिति को देखकर सोचता हैः ''पैसा शोषण का अस्त्र है। वह चाहे प्रकाशक के हाथ में हो, चाहे स्वाधीनता की लड़ाई लड़नेवाले ठाकुर साहब जैसे तपे हुये नेता के हाथ में, चाहे किसी के हाथ में। वह शोषण का अस्त्र बार–बार श्रीधर जैसे ईमानदार, स्वप्नदर्शी व्यक्ति को तोड़ता है और श्रीधर अन्त में पाता है कि वह हारा हुआ, टूटा हुआ आदमी बनकर शेष रह गया है।''[150]

'सुबह अंधेरे पथ' में सुरेश सिन्हा ने मध्यमवर्ग की आर्थिक विषम परिस्थितियों का वर्णन करते हुए लिखा हैः ''निम्न–मध्य वर्ग का हर प्राणी सपना ही देखता है। उसके साथ इतनी गरीबी और लाचारी है कि उसकी हर इच्छा अपूर्ण रह जाती है। वह अपना सोचा कुछ नहीं कर पाता।''[151]

'समुद्र में खोया हुआ आदमी' में कमलेश्वर ने आर्थिक संकट के कारण उत्तरोत्तर टूटते हुए मध्यमवर्गी? परिवार को दिखाया है। डॉ. पिताम्बर सरोदे ने इस उपन्यास का विवेचन करते हुए लिखा हैः ''महानगरों में रहने वाले निम्न मध्यमवर्ग के परिवार के टूटते जाने की प्रक्रिया का अंकन इस उपन्यास में कमलेश्वर ने किया है। जर्जर आर्थिख दशा में परिवर्तन लाने के लिए नया भविष्य खोजते हुए जब श्यामलाल दिल्ली आते हैं, तब उनकी कुछ आशाएँ रहती हैं। लेकिन नौकरी चली जाती है, इतना ही नहीं, तो भविष्य जिस पुत्र 'बिरेन' पर अवलंबित माना गया है, वह भी समुद्र में डूब जाता है। परिणामस्वरूप परिवार की आर्थिक हालत बिगड़ जाती है। श्यामलाल बाबू का वैयक्तिक और पारिवारिक जीवन बिखर जाता है।''[152]

'कन्दली और कुहासे' में लेखक ने मध्यविद किशू जो शिक्षित किन्तु बेरोजगार है, उसकी समस्याओं का आलेखन किया है। आर्थिक कठिनाइयों के कारण ही पिता की मृत्यु हो जाती है, जिससे बड़ा भाई किशन को परिवार की सभी जिम्मेदारी उठानी पड़ती है। बीमार माँ का इलाज, भाइयों और सुधा की पढ़ाई का खर्च वह नहीं उठा पाता। महँगाई के कारण मध्यमवर्ग का जीवनयापन मुश्किल हो गया है। किसू

का कहना है: ''आराम हुआ होगा आजादी से किसी दूसरे वर्ग को। मध्यमवर्ग तो बुरी तरह पिस गया। ... महँगाई के साथ–साथ एक दूसरा शैतान भी मध्यमवर्ग की गरदन पर सवार है– टैक्स''[153]

'कच्ची पक्की दीवारें' के अंतर्गत राजकुमार भ्रमर ने उमानाथ, जसवन्त चौधरी, काले बाबू, दरोगाजी, माधवी और कुलदीप जैसे पात्रों के माध्यम से मध्यमवर्गीय समाज में प्रवर्तमान आर्थिक विषमताओं को दर्शाया है।

'जल टूटता हुआ' में सुग्गन मास्टर मध्यमवर्ग का प्रतीक है। आर्थिक विषमता के कारण सुग्गन मास्टर खाली पेट, पन्द्रह अगस्त को स्वाधीनता का पर्व मना रहा है। ''उसकी आँखों में बीता हुआ कल उतर गया। हाँ, पाँच दिन पहले बाजार से कुछ मटर और जौ ले आया था, जो कल शाम को ही खत्म हो गया। बच्चों के लिए तो अंट–संट हो भी गया। उसे और उसकी पत्नी को भूखे पेट सो जाना पड़ा। तीन महीने से तनख्वाह नहीं मिली, खेत में कुछ हुआ ही नहीं, उधार कब तक देगा बनिया?''[154]

'कुछ जिन्दगीयाँ बेमतलब' (ओमप्रकाश दीपक) में घसीटा नामक पात्र द्वारा निम्न मध्यवर्ग की आर्थिक मुश्किलों को व्यंग्य के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। आर्थिक विपन्नता के कारण मध्यमवर्गीय व्यक्ति अपना जीवन जिस यातना और घुटन में गुजारता है उसका यथार्थ चित्रण देखने को मिलता है। घसीटा आत्मनिर्भर बनना चाहता है परंतु आर्थिक विषमताओं के कारण वह एक छोटी–मोटी पान की दुकान भी नहीं खोल पाता। उसका जीवन इतना निरस हो गया है कि.. ''बिस्कुट चबाने पर उसे लगता है जैसे वह कागज की लुगदी चबा रहा है।''[155]

'अमृत और विष' में नागर जी ने आर्थिक विषमता के कारण कुंठित और विद्रोही होते हुए नई पीढ़ी का परिचय कराते हुए लिखा है: ''मेरे सामने कुंठित नौजवान भारत बैठा था, जो बेकार है, दरिद्रता से नफरत करता है, उन्नतिशील जीवन चाहता है और न मिलने पर दुत्कारे जाने पर अपने कुंठित आत्मसम्मान के लिए जीवन–सुरक्षा के लिए कितना अविवेकी, क्षुद्र और अन्धस्वार्थी हो जाता है।''[156]

'अंधेरे बन्द कमरे' में मध्यमवर्गीय पत्रकार मधुसूदन चाहकर भी आर्थिक विषमता के कारण कुमारी शुक्ला को नहीं हासिल कर पाता। इसके सिवाय, हरबंस और नीलिमा के दाम्पत्य जीवन में मिलती कटुता भी आर्थिक वैषम्य के कारण ही है।

'डाक बंगला' की इरा भी आर्थिक विषमता के कारण बारी–बारी बिमल, बतरा और डॉ. चन्द्रमोहन के परिचय में आती है। आर्थिक लाचारी के कारण गृहस्थी का सपना टूट जाता है, आखिर में इन पुरुषों

की कामवासना तृप्ति का साधन मात्र बनकर रहती है।

'कितने चौराहे' के निम्न मध्यमवर्गीय मोहरित मामा आर्थिक वैषम्य के कारण गृहस्थी की जिम्मेदारी नहीं उठा पाते। मनमोहन का सहारा लेकर घर गृहस्थी चलाते हैं। मनहर चौहान कृत 'असंतुलन' उपन्यास में आर्थिक विषमता के कारण दिल्ली शहर के अभावग्रस्त मध्यमवर्गीय जीवन का चित्रण देखने को मिलता है। ''अर्थगत आधार पर इस असंतुलन के कारण हैं, निरन्तर बढ़ती हुई महँगाई है, काला बाजार, रिश्वतखोरी, धोखा, छल, बेईमानी, जो सरकार की नाक के नीचे धडल्ले से पनप रहे हैं और जिन्हें पनपने के लिए प्रशासक वर्ग, जन सामान्य से सिर पर बाढ़ आदि का भूत खड़ा कर देते हैं ताकि व्यापारी वर्ग जनता का कुछ और आर्थिक शोषण कर सके।''[157] यह कथन आर्थिक विषमता पर डॉ. पुरुषोत्तमलाल दुबे ने अपनी आलोचनात्मक ग्रंथ 'व्यक्ति चेतना और स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास' में लिखा है।

'सामर्थ्य और सीमा' का 'प्रसिद्ध उद्योगपति रतनचन्द्र मक्रोला तो रुपिये को ही शक्तिशाली है।''[158]

'जल टूटता हुआ' में बेरोजगारी और महँगाई के कारण मध्यवर्ग की दुर्दशा का चित्रण है। 'जल टूटता हुआ' के मध्यमवर्गीय सतीश का कथन है: ''इस इलाके में बामन, हरिजन, मध्यमवर्ग, निम्नवर्ग सभी भूखमरे और गरीबी के चक्के में बुरी तरह पिस रहे हैं।''[159] सतीष मध्यवर्गीय ग्रामीणों की आर्थिक विवशता अपनी नजर से देखता है: ''मास्टर कस्बे जा रहा है। हाथ में औरत के जेवर हैं चाँदी के। चौधरी के यहाँ जा रहा है मास्टर। जमुना भौजी के जो जेवर जवान बेटी गीता के तन पर जाने चाहिए वे कस्बे के चौधरी की तिजोरी में जा रहे हैं, जहाँ पड़े-पड़े एक दिन अपना अधिकार खो बैठेंगे।''[160] सतीष के पिता इस प्रकार पत्नी के गहने बेचकर गृहस्थी चला रहे हैं।

आर्थिक विषमताओं के कारण मध्यमवर्गीय समाज लड़कियों को किसी के साथ भी विवाह करवा देते हैं। 'अलग-अलग वैतरणी' (शिवप्रसाद सिंह) में पुष्पा का विवाह आर्थिक विपन्नताओं के कारण एक विधुर से करवा दिया जाता है।

विवेच्य गुजराती उपन्यासों में आर्थिक स्थिति:

भारतीय समाज की मूल अर्थ-व्यवस्था कृषिप्रधान ग्रामीण समाज भी रहा है। आधुनिक उन्नति के परिप्रेक्ष्य में उद्योग-कारखानों की क्रांति के फलस्वरूप उनकी आर्थिक स्थिति में परिवर्तन परिलक्षित हुआ।

खासतौर से मध्यमवर्गय समाज में बदलती हुई आर्थिक स्थिति, आर्थिक विषमतावश उपजी

नैतिक, सामाजिक समस्याओं ने मानव जीवन को काफी बदला। अर्थ की दृष्टि से शोषक और शोषित जैसे वर्गभेद उत्पन्न हुए। जनसंख्या वृद्धि के तहत मध्यमवर्ग में गरीबी, टैक्स, महँगाई से उत्पन्न बेकारी, दहेज, बेमेल विवाह, देह–विक्रय, बेईमानी, भ्रष्टाचारी, निराशा, घुटन आदि जैसी कई विकराल समस्याएँ आई।

पूँजीवादी युग की ओर अग्रसर संस्कृति ने मध्यमवर्गीय समाज में 'रूपया ही सत्ता है' जैसी मनोवृत्ति को हमेशा के लिए स्थापित कर दिया जिसके कारण सरकार या व्यक्ति देश–विदेश के सम्पर्क में आयात–निर्यात के दौरान अपना स्वार्थ पूरा करने लगा। कृषिधन और पशुधान की निकासी पर मधुराय ने अपने उपन्यास 'कल्पतरु' में लिखा हैः''देशनी जमीन पर अनाजना स्थाने ढेर चराववा, उछेरवा, कतल करी निकास करवानो परवानो मेळव्यो छे. बीजी अेक आंतरराष्ट्रीय अेग्रो बिजनेस कंपनीअे त्यांना खेतरोमां उगे छे अे ढोरनो चारो अने ढोरनुं मांस जमे छे यूरोप, अमेरिका अने अरब देशोना शोखीन धनिको। .... अने वधु ने वधु गांडपणथी पोताना देशोनी प्रजाओ माटे भूखमरानुं सर्जन कर्या ज करे अेवी आबाद युक्तिओ केवळ वाणिज्य अर्थे प्रयोजाया करे छे।''[161]

(देश की जमीन पर अनाज की जगह जानवर चराने, पालने और कत्ल कर निकास करने की सहमति मिल गई है। दूसरी एक आंतरराष्ट्रीय एग्रो बिज़नेस कंपनी वहाँ उगाती है जानवरों का चारा और जानवरों का माँस खाती है यूरोप, अमेरिका और अरब देश के शौकीन धनिक ... और ज्यादा से ज्यादा पागलपन यह कि देश की अपनी प्रजा के लिए भूखमरे का सृजन करती नयी–नयी युक्तियाँ केवल वाणिज्य के सहारे किया करती है।)

सरकारी निर्णय के कारण आर्थिक विषमता का सामना मध्यमवर्ग को ही खासतौर पर करना पड़ता है। ''अर्थात् प्रजाना भाणानां धानने खूंचवी सरकारी तिजोरीओमां विदेशी हुंडियामण भराय छे।''[162]
(यानि प्रजा की मेहनत के अनाज को तहस–नहस कर सरकार अपनी तिजोरी में विदेशी मूड़ी भरती है।)

पैसा कमाने की व्यापारी तरकीबें, चतुराइयाँ, अक्सर मध्यमवर्ग की सोच में शामिल है। किंबल रेवन्सवूड के नायक योगेश के पिता शंकरभाई पटेल खादी कपड़े के व्यापारी हैं, उनका बड़ा बेटा जीतू तो नहीं पढ़ पाता, मगर छोटा बेटा योगेश एम.बी.ए. कर लेता है। एम.बी.ए. के आधार के साथ–साथ वह शिकागो में समर फुलटाइम और पार्टटाइम काम करके डॉलर बचाता है। जिसे वह घर भेजकर परिवार की मदद करता रहता हैः

''चार वरसमां अेणे मोकलेल पैसाथी शंकरभाईअे सोसायटीमां मकान लीधेलुं, फर्स्ट नंबरना सन

जितुनुं स्कूटर अेमांथी आवी गयुं हतुं। योगेश अवार–नवार शिकागोथी चीजवस्तु–कपड़ा मोकलतो। जितुना छोकरांओ जन्म्यां त्यारथी अमेरिकन कपड़ां पहेरतां हतां।''[163]

(चार साल में उसके भेजे पैसों से शंकरभाईने सोसायटी में मकान लिया, फर्स्ट नंबर के सन जितु के लिए स्कूटर इसी में से आया था। योगेश जब तब शिकागो से वस्तुएँ, कपड़े आदि भेजता। जीतू के लड़के जन्म से ही अमरिकी कपड़े पहनते थे।)

योगेश के इस प्रकार प्रवासी भारतीय होने से गुजरात के मध्यमवर्गीय शंकरभाई पटेल आर्थिक तौर पर संतुष्ट परिवार के रूप में अपनी जगह बनाते हैं। लेकिन उनका ही बड़ा लड़का जीतू अधिक न पढ़ पाने के कारण कुछ गलत आदतों का शिकार हो जाता हैः

''मोटो सन जितू अेस.अेस.सी. कर्या वगर उठी गयेलो। तमाकु अने सिगारेटना चाळे चडी गयेलो। मिलमां सर्विस करतो हतो, अेना मेरेजमां बहु डावरी मळी नहोती।''[164]

(बड़ा सन जीतू एस.एस.सी. किए बिना रह गया। तम्बाकु और सिगरेट की लत पर चढ़ गया। मिल में सर्विस करता था और उसके मैरिज में ज्यादा दहेज नहीं मिला था।)

इस प्रकार आर्थिक आधार पर शंकरभाई के दोनों बेटों की आदत–आचरण और जीवन अलग–अलग बन जाता है। पैसा तो जीवन की प्रमुख आवश्यकता बन गया, यह बात मध्यमवर्ग अच्छी तरह जानता है। जब योगेश की माँ का बीमारी का तार मिलता है, तब भारत जाने से पूर्व योगेश को पेगी कहती हैः

''आई विल मिस यु। मारी पासे पैसा छे, मने साथे लई जा।''[165]

(आई विल मिस यु, मेरे पास पैसे हैं, मुझे साथ ले चल।)

अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए मध्यमवर्गीय व्यक्ति छोटी–छोटी बेईमानी, भ्रष्टाचारी करते हुए नहीं डरता। योगेश यही करता है।

''अेरपोर्ट उपर जशुभाईअे अेक कागळ पर न्यूयोर्कनी कनाल स्ट्रीटनी ऊपरनी अेक दुकाननुं ठेकाणुं आप्युं, त्यांथी हजारेक डॉलरनी वस्तुओ इंडिया ब्लेकमां वेचवा माटे लई जवानी हती।''[166]

(एयरपोर्ट पर जशुभाई ने एक कागज के ऊपर न्यूयोर्क की कनाल स्ट्रीट के ऊपर की एक दुकान का पता दिया। वहाँ से हजार–एक डॉलर की वस्तुएँ इंडिया ब्लेक में बेचने के लिए ले जानी थीं।)

आधुनिक दौर में यही नहीं, व्यक्तिगत रूप से मध्यमवर्गीय लड़कियाँ जैसे ममता योगेश से खरीदारी करते समय कैसे चालाकी, बेईमानी करनी चाहिए, यह अपनी बातचीत के दौरान बताती हैः

'जुओ, सपोज के कपड़ांनुं सेल होय, तो सेलनी प्राईसथी चीप केम बाय करवुं अे पण आवडे।

आई सी! केम?

वीस डॉलरनी आइटम अने अेक पचास डॉलरनी आइटम , बेई लई ने ड्रेसिंग रूममां जवुं, ओ.के.? पछी प्राइसनी चिठ्ठीनी अदला–बदली करी नाखवी, ओ.के? पछी पचास डॉलरनी आइटम ऊपर वीस डॉलरनी चिठ्ठी होय अेटले केशियर तो वीस डॉलरमां ज आपे ने?''[167]

(देखो, सपोज़ कि कपड़े का सेल लगा हो, तो सेल की प्राइस से चीप कैसे बाय करना, ये भी आता है।

आई सी, कैसे?

बीस डॉलर की आइटम और एक पचास डॉलर की आइटम, दोनों लेकर ड्रेसिंग रूम में जाना, ओ.के.? फिर प्राइस की चिट की अदला–बदली कर दो, ओ.के.? फिर पचास डॉलर की आइटम पर बीस डॉलर की चिट होती है, इसलिए कैशियर तो बीस डॉलर में ही देगा न?)

अमीरी, गरीबी, आर्थिख विषमतावश ही चोरी, बेईमानी, भ्रष्टाचारी, काला बाजारी और ऐसी धोखादड़ी मध्यमवर्ग में बढ़ी है। बाहर घूमना–फिरना, मोज–शोख में उड़ाना, दिखाना आदि प्रवृत्तियाँ भी मध्यमवर्ग की अपनी पहचान है। लड़की को फँसाने की बात में पैसों का फायदा वह नहीं छोड़ता है। देवुभाई योगेश से कहता हैः

''तारा पादरनी फिलॉसोफी छे, सामानुं भले सोनुं नुकशान थाय आपणने बे पैसानो प्रोफिट थाय तो करी लेवो।''[168]

(तुम्हारे फादर की फिलॉसोफी है कि सामनेवाले का भले सौ का नुकशान हो, हमें यदि दो पैसों का फायदा होता है तो कर लेना चाहिए।)

पैसा कमाने के लिए मध्यमवर्ग कुछ भी कर सकता है। देवुभाई का ड्राईवर जब योगेश को अपने मित्रों के यहाँ मिलाने ले जा रहा होता है, तब रास्ते में वह योगेश से खुद को विदेशमें सेटल होने की बात कहता है। वह उसे बताता है कि वह अच्छी गाड़ी चलाना जानता है और पन्द्रह साल का अनुभव उसे है। योगेश उसे बातों–बातों में बताता है कि वहाँ एक घण्टा चलाने के दस डॉलर यानि सौ रुपए मिलते हैं। तो वह तुरंत कहता है–

''बोलो, तमे हेल्प करो तो कलाक ना दस डॉलरमांथी बे तमारा, बोलो योगेशभाई?''[169]

(बोलो, तुम हैल्प करो तो एक घण्टे के दस डॉलर में से दो तुम्हारे, बोलो योगेशभाई?)

उपन्यास में योगेश जब भावना की भारतीय सांस्कृतिक विचारधारा से टकराता है तो भावना क्रोधावेश में उसे जीवन सत्य कह भी देती है:

''डॉलरना नव रुपिया उपजाववाथी वधु अगत्यनी घणी वातो छे जीवनमां... डॉलरोना काळा बाजार करशो त्यारे कदाच अेक क्षण विचार आवशे के तमे चोर छो, करोडो अभण, पीड़ाता, गरीब लोकोना भाणामांथी चोरो छो। दुनियानी छठ्ठाभागनी अे अभागी प्रजाने छेतरी अेनी हाँसीना वैश्विक समूहगानमां मूर्खतापूर्वक साद मिलावो छो।''[170]

(डॉलर के नौ रुपये बनाने के सिवाय भी कई महत्वपूर्ण बातें हैं जीवन में... डॉलरों का कालाबाजार करोगे, तब शायद एक क्षण विचार आयेगा कि तुम चोर हो, करोड़ों अनपढ़, पीड़ित, गरीबलोगों के हिस्से में से चोरते हो, दुनिया की छठे भाग की इस अभागी प्रजा को धोखा देकर उन पर हँसकर विश्व के समूहगान में मूर्खतापूर्ण लय मिलाते हो।)

मध्यमवर्गीय योगेश अपने स्वभाव का इकरार देवुभाई के सामने स्पष्ट रूप से कर देता है:

''मारो नेचर अेवो छे के जाणे आपणुं अेक पैसानुं नुकशान कराव्युं होय अेनुं अेक लाखनुं नुकशान कराववुं।''[171]

(मेरा नेचर ऐसा है कि जिसने मेरा एक पैसे का नुकसान कराया हो, उसका मैं एक लाख का नुकसान कराउँ।)

इस प्रकार हम देखते हैं कि पैसे के कारण मानव के संबंध मानवीय नहीं रह पाते। जमीन–जायदाद का लोभ भी परिवार के बीच वैषम्य को उत्पन्न कर देता है। जैसे 'कूवो' उपन्यास में बँटवारे के कारण कुएँ के पानी का झगड़ा दोनों भाईयों के बीच हो जाता है और दरिया दोनों के बीच संघर्ष उत्तरोत्तर तीव्र बनता जाता है।

''नियम मुजब महिनामां वीस दिवस डुंगर ने अने दस दिवस मुखीने कुवे कोस फेरववानो हक्क होवा छतां, मुखी मन फावे तेटला दिवस कूवे पोतानो कोस जोड़े, दादागीरी करीने डुंगरने दबाव्या–दबडाव्या करे।''[172]

(नियम के अनुसार महीने में बीस दिन डुंगर को और दस दिन ही मुखी को कुएँ से फेरने का लिखित हक्क है, फिर भी मुखी मन चाहे दिन कूएँ से खुद का फायदा लेता है और दादागीरी से डुंगर को दबाता रहता है)

यही नहीं, मारा–पीटी में डुंगर अस्वस्थ (शारीरिक और मानसिक दोनों) हो जाता है। गरीबी ऊपर

से बीमारी मानव जीवन की दुर्दशा ही बयान करती है। परिणाम यह निकलता है कि–

''कुकरीदावनी रमतमां उस्ताद दरिया मुखीने दलीलोना साणसामां अेवा भीड़ावा छे के कूवाना समारकामना खर्च पेटे लेणी नीकळती रुपिया बसोनी रकम तत्काली शेठ तंबक वाणियाने खेतरमां लईने आववानी अने मुखी वती चूकववानी फरज पडे छे।''[173]

(दाँव–पेच के खेल में उस्ताद दरिया मुखी ने दलीलें कुछ इस तरह बिठाई कि कुएँ के निर्माण के खर्च की रकम दो सौ रूपये तत्काल शेठ तंबक वाणिया को देने शीघ्र ही खेत में लेकर आने की फर्ज मुखी के कारण चुकानी पड़ी।)

मध्यमवर्गीय परिवार अपनी मर्यादित आय में भी जीने का आदती हो जाता है, यह बात साठोत्तरी गुजराती उपन्यासों में व्यक्त हुई है। जैसे 'नाईटमेर' की नियति पति के साथ–साथ स्वयं भी नौकरी पेशा बन जाती है। या उपन्यास 'कुंती' में सीमित आय में सुखी यह दाम्पत्य जीवन–

'कुंती करकसर करीने, ट्यूशनो करीने पतिनी मर्यादित आवकने कारणे आर्थिक संकडाश वेठीने पण, आठ बाय दसनी ओरडीमां अे रीते गृहसंसार निभावे छे के लक्षाधिपति शेठ सूरजमलने पण तेना प्रसन्न दाम्पत्यनी ईर्षा आवे। आवी परिस्थितिमां कर्णना पालक स्वीडिश पिता ओलीवर तरफथी लाखेक रुपिया जेवी मदद स्वीकारवानो ते इन्कार करे छे।''[174]

(कुंती बचत कर, ट्यूशन पढ़ाकर पति की मर्यादित आय के कारण आर्थिक संकट में भी आठ बाय दस के छोटे कमरे में इस तरह गृहसंसार निभाती है कि लक्षाधिपति सेठ सूरजमल भी उसके सुखी प्रसन्न दाम्पत्य से ईर्ष्या करता है। ऐसी परिस्थिति में कर्ण के स्वीडिश पिता ओलीवर द्वारा लाख रुपये की मदद स्वीकार करने का वह इंकार कर देती है।)

इस प्रकार अन्य की मदद न लेकर स्वाभिमान से जीने की अटूट भावना भी मध्यमवर्गीय परिवारों में पाई जाती है। 'अमृता' उपन्यास का नायक उदयन तो स्वाभिमानवश अपनी नौकरी तक छोड़ देता है। परन्तु आगे उसे फिर बेकारी और आर्थिक संकट का सामना करना पड़ता है। स्वयं अमृता को भी पीएच.डी. करने के बावजूद नौकरी नहीं मिल पाती। यही हालत आगन्तुक के ईशान की होती है कि उसे सर्टिफिकेट फाड़ देने की वजह से बेकारी का सामना करना पड़ता है।

'कलानिर्माण अेक नवुं नाटक करे छे, विभा!

अच्छा! शुं कॉमेडी? ट्रेजेडी?

कॉमेडी यार, आजकाल ट्रेजेडी गमे छे कोने? फर्स्ट क्लास सेक्स कॉमेडी छे. तने हिरोईनना रोल माटे खास बोलावी छे अे लोकोअे। अेक शो ना रुपिया अढी सो ऑफर कर्या छे।

अढी सो?

हा, ने दश शो ना पैसा तो पहेलेथी तारा हाथमां मूकी देवा तैयार छे।''[175]

(कला निर्माण एक नया नाटक कर रही है, विभा!

अच्छा! क्या कॉमेडी? ट्रेजेड़ी?

कॉमेडी यार, आज कल ट्रेजेड़ी किसको अच्छी लगती है? फर्स्ट क्लास सैक्स कॉमेडी है। तुझे ही हिरोईन के लिए खास रोल हेतु बुलाया है इन लोगों ने। एक शो के ढाई सौ रुपये कहा है।

ढाई सौ?

हाँ, और दस शो के पैसे तो पहले से ही हाथ में रखने को तैयार हैं।)

इस प्रकार मध्यमवर्ग अपनी आर्थिक तंगी को दूर करने और जीवन में अधिक से अधिक सुविधाएँ जुटाने में लगा रहता है। फिर वह चाहे साठोत्तरी उपन्यास का योगेश हो, नियति हो, उदयन, अनिकेत हो या हो मयंक, विभा जैसे पात्र। सभी को उत्तम कमाई का जरिया अर्थात् काम मिले, मध्यमवर्ग की यह मानसिकता कई उपन्यासों में झलकती है। क्योंकि इस वर्ग का मानना है कि स्त्री हो या पुरुष, आर्थिक मजबूती के कारण वह स्वाभिमानपूर्ण जिंदगी बसर कर सकते हैं। इसी कारण औरतें भी नौकरीपेशा हुई। अन्यथा आर्थिख विषमतावश यह वर्ग घुटन, पीड़ा, कुंठा, विद्रोह को जीकर समाप्त हो जाता है। आज बढ़ती जा रही बाजारीकरण की चकाचौंध ने मध्यमवर्ग को ही सबसे ज्यादा प्रभावित किया है। मौज–शोख के खर्च, पढ़ाई का खर्च, बीमारियों के खर्चो के बीच जीना यह मध्यमवर्ग साठोत्तरी गुजराती उपन्यासों में केन्द्रीय भूमिका के रूप में आया है।

हिन्दी और गुजराती उपन्यासों में आर्थिक स्थिति साम्य–वैषम्यः

पूँजीवादी युग का परिवेश हिन्दी–गुजराती साठोत्तरी उपन्यासों में उपस्थित हुआ है। अर्थ की शक्ति के विकास को दोनों भाषाओं के रचनाकारों ने पहचाना और प्रस्तुत किया है। दरअसल स्वतंत्रता के बाद भारत के संदर्भ में जवाहरलाल नेहरू की विदेशनीति, सहअस्तित्व की भावना, पंचवर्षीय योजना और भारत–रुस, भारत–चीन के मिश्रित संबंधों ने भारतीय आर्थिक समाज का ताना–बाना तैयार किया था।

मिश्रित अर्थव्यवस्था के आधार पर ही भारत ने देश के विकास का रास्ता अख्तियार किया था, जिसके परिणामस्वरूप समाज का ढाँचा बना।

फलस्वरूप ग्रामीण आर्थिक बदहाली, जनता को योजनाओं का लाभ न मिलना, सत्ता व जनता का अलगाव या फिर आर्थिक स्तर ऊँचे होते जाने से यहाँ का मध्यमवर्ग दो पाटों के बीच पिस गया।

महँगाई, गरीबी, तंगी इत्यादि परिस्थितियोंवश या तो वह अंधविश्वासी, संतोषी बना या फिर चालाक, धूर्त, बेईमान, भ्रष्टाचारी व्यवस्था के तहत ढलता–चलता गया। आर्थिक विषमताओं का चित्रण मध्यमवर्गीय परिवारों की वास्तविकता है जहाँ उन्हें एक ओर सम्मान, मर्यादा, इज्जत का भय रहता है तो दूसरी ओर आजीविका का प्रश्न। बेकारी, भ्रष्टाचारी जैसे राक्षसों से वह परिश्रम कर सामना तो करता है मगर उसके हाथ उसके भाग्य का द्वंद्व युद्ध शुरु हो जाता है। मध्यमवर्ग बार–बार आर्थिक विषमता की कसौटी पर खड़ा दिखाई देता है। और वह स्वयं से ही जीवन होता है। हिन्दी उपन्यास 'झूठा सच' की पात्र तारा पैसे की कमी के कारण ही आगे नहीं पढ़ पाती–

''विद्या पैसे के बिना अप्राप्य है।''[176]

इसी प्रकार गुजराती उपन्यास में 'तिराड' उपन्यास की जोईती पति का ईलाज पैसों के अभाववश ही नहीं करवा सकी। जोईती कहती है–

''दवाना पैसाय नथी। हुं दवा लावुं क्यांथी..... भूख्या उठाडे पण भूख्या सुवाडे नहीं... अे कहेवतनुं शुं?''[177]

(दवाई के पैसे ही नहीं हैं, मैं दवाई कहाँ से लाऊँ? ... भूखे उठाते हैं पर भूखे सुलाते नहीं.. इस कहावत का क्या?)

पूँजीवादी युग में पैसे का महत्व सर्वोपरि तो है ही अन्यथा न तो आपके काम होंगे और न ही संबंधो में अपनापन। रांगेय राघव 'आखिरी आवाज' उपन्यास में प्यारे के मुख से कहलवाते हैं जो अपने बड़े भाई साहब को कहता है–

''अपने साथ कुछ धन ले आइए, क्योंकि भाई, खाली हाथ चलने का कहीं महत्व नहीं है।''[178]

गुजराती उपन्यास 'किंबल रेवन्सवूड' में भी योगेश के पिता की यही फिलॉसोफी है–

''आपणने बे पैसानो प्रोफिट थाय तो करी लेवो।''[179]

(हमें दो पैसों का प्रोफिट हो तो कर लेना चाहिए।)

इस प्रकार मध्यमवर्गीय मानसिकता आर्थिक स्तर पर लाभ उठाने की ही रही है। आर्थिक स्तर पर

मध्यमवर्गीय चेतना में बदलाव देखा जा सकता है। भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'आखिरी दॉव' का रामेश्वर कहता है–

'हम सब पैसे के गुलाम हैं, धन हमारा ईश्वर है।''[180]

और हम देखते हैं कि मध्यमवर्गीय समाज में पैसों के लोभवश 'आडम्बरी जीवन' बढ़ता चला गया है। दिखावा, ढोंग, दहेज में बढ़–चढ़कर देना, उमंग–उत्साह–उत्सव का भरपूर प्रदर्शन, अपनी क्षमता से बाहर खर्चा इस वर्ग को बनाते–पिछाड़ते चले गए। बेकारी से त्रस्त शिक्षित युवक की कथा गिरधर गोपाल के उपन्यास 'कन्दली और कुहासे' में चित्रित है। आर्थिक विषमतावश तंगी की स्थितियों में उस युवक के पिता की मृत्यु हो जाता है, बड़ा भाई पूरे परिवार का खर्चा उठाता है, माँ की बीमारी हो या बहन की पढ़ाई का खर्च, ऊपर से महँगाई ने जीना हराम कर दिया। किशू कहता है–

''अच्छा हुआ होगा आजादी से किसी दूसरे वर्ग को, मध्यमवर्ग तो बुरी तरह पिस गया... महँगाई के साथ–साथ एक दूसरा शैतान भी मध्यमवर्ग की गरदन पर सवार है–टैक्स।''[181]

गुजराती उपन्यास 'कुंती' में नायिका ट्यूशन और पति की मर्यादित आय में आर्थिक विषमता को भोगती हुई जीवन–यापन करती है। और इसी प्रकार 'बत्रीस पुतळीनी वेदना' में विभा नाटक शो पैसे के लिए ही करती है। उसका पति मयंक उत्साह व उल्लास से कहता है–

'हा, ने दस शो ना पैसा तो पहेलेथी तारा हाथमां मूकी देवा तैयार छे।''[182]

आर्थिक विषमता से मध्यमवर्ग में कुंठाएँ, हीन भावना उपजी है। 'अमृत और विष' उपन्यास के नागरजी सही कहते हैं:

''मेरे सामने कुंठित नौजवान भारत बैठा था, जो बेकार है, दरिद्रता से नफरत करता है, उन्नतिशील जीवन चाहता है, और न मिलने पर, दुत्कारे जाने पर अपने कुंठित आत्म–सम्मान के लिए जीवन सुरक्षा के लिए कितना अविवेकी, क्षय और अन्धस्वार्थी हो जाता है।''[183]

आर्थिक विषमता ने ही मध्यमवर्गीय जीवन में भ्रष्टाचारी, बेईमानी को बढ़ावा दिया। जैसे अमेरिका से भारत आनेवाला योगेश इंडिया के बाजार में ब्लेक में वस्तुएँ बेचने से नहीं कतराता। पैसे से पैसा बनाना, नयी नयी तरकीबें, बेईमानी जैसे जीवन व्यवहार बनते जा रहे हैं। 'किंबल रेवन्सवूड' की 'ममता' योगेश के साथ अमेरिका जाने की इच्छुक है और बेईमान चालाकियाँ कितनी सहज होती हैं, यह वह योगेश को बातचीत में एक उदाहरण द्वारा समझा देती है कि किस प्रकार महँगा कपड़ा सेल द्वारा सस्ते में खरीद लेना

आसान है –

'पचास डॉलरनी आइटम उपर वीस डॉलरनी चिट्ठी होय, अेटले केशियर तो वीस डॉलरमां ज आपे ने।''[184]

इस प्रकार साठोत्तरी उपन्यासों में दोनों भाषाओं के रचनाकारों ने आर्थिक विषमता से बनती–बिगड़ती संस्कृति की तस्वीर खींची है। वैश्वीकरण की दौड़ ने आर्थिक स्तर पर मध्यमवर्ग को सबसे अधिक प्रभावित किया है, यह साठोत्तरी उपन्यास दर्शाते हैं।

* * * * *

संदर्भ सूचि

1. H.M. Johnson : Sociology - A Systematic Introduction, P. 49
2. राजेन्द्र यादव :हिन्दी उपन्यास तीन दशक, पृ. 27
3. वही – पृ. 34
4. अमृतलाल नागर – अमृत और विष, पृ. 478
5. वही – पृ. 234
6. वही – पृ. 111
7. भगवतीचरण वर्मा : भूले बिसरे चित्र, पृ. 218
8. डॉ. अतुलवीर अरोड़ा – आधुनिकता के संदर्भ में आज का हिन्दी उपन्यास, पृ. 236
9. अमृतलाल नागर – अमृत और विष, पृ. 700
10. वही – पृ. 546
11. डॉ. हेमेन्द्र पानेरी : स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास : मूल्य संक्रमण, पृ. 189
12. अमृतलाल नागर : अमृत और विष, पृ. 217
13. वही – पृ. 505
14. डॉ. हेमेन्द्र पानेरी – स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास : मूल्य संक्रमण, पृ. 190
15. डॉ. घनश्याम 'मधुप' – हिन्दी लघु उपन्यास, पृ. 116
16. राजेन्द्र प्रताप : हिन्दी उपन्यास तीन दशक, पृ. 34
17. निर्मल वर्मा : मछली मरी हुई, पृ. 119
18. वही, पृ. 117
19. डाक बंगला, पृ. 65
20. मोहन राकेश – अंधेरे बंद कमरे, पृ. 466–67
21. वही – पृ. 255
22. वही – पृ. 255
23. वही – पृ. 135
24. कृष्णा सोबती : मित्रो मरजानी

25. सुरेश सिन्हा : पत्थरों का शह
26. गिरिराज किशोर : चिड़ियाघर, पृ. 96
27. भगवती प्रसाद वाजपेयी : एंक स्वर आँसू का, पृ. 86
28. राजेन्द्र यादव : हिन्दी उपन्यास तीन दशक, पृ. 165
29. धर्मवीर भारती : सूरज का सातवाँ घोड़ा, पृ. 425–426
30. अमृतलाल नागर : अमृत और विष, पृ. 600
31. श्रीलाल शुकल : राग दरबारी, पृ. 129
32. डॉ. राजकमल चौधरी : हिन्दी उपन्यास, प्रयोग के चरण, पृ. 42
33. ललित अरोड़ा – उपन्यासकार भगवतीचरण वर्मा : एक अध्ययन, पृ. 155
34. डॉ. कुलदीप चन्द्रगुप्त : उपन्यासकार उपेन्द्रनाथ 'अश्क', पृ. 132
35. सामर्थ्य और सीमा, पृ. 132
36. ताप्तीलोक : अंक 08–09 : 16 नवम्बर 07, पृ. 24
37. सं. डॉ. प्रणव पंड्या : अखण्ड ज्योति : अंक फरवरी 2008, पृ. 9
38. मधुराय : किम्बल रेवन्सवूड, पृ. 125
39. वही – पृ. 166
40. वही – पृ. 6
41. वही – पृ. 115
42. वही – पृ. 14
43. धीरुबहेन पटेल : आगन्तुक, पृ. 145
44. दिगीश महेता : आपणो घड़ीक संग – पृ. 15
45. वही – पृ. 17
46. मधुराय : कामिनी : पृ. 70
47. किशार जादव : निशाचक्र, पृ. 77
48. वही – पृ. 10
49. हरीश मंगलम् – तिराड़ – पृ. 81–82

50. सुरेश जोशी : छिन्नपत्र, पृ. 59

51. वही – पृ. 72

52. वही – पृ. 36

53. किशोर जादव : निशाचक्र, पृ. 35

54. रघुवीर चौधरी : अमृता, पृ. 147

55. इला आरब महेता : बत्रीस पूतळीनी वेदना, पृ. 21

56. चन्द्रकांत बक्षी : जातक कथा, पृ. 102

57. बाबु दावलपुरा : कथापर्व–2, पृ. 152

58. वीनेश अंताणी : प्रियजन, पृ. 85–86

59. धीरुबहेन पटेल – आगन्तुक, पृ. 3

60. बाबू दावलपुरा : कथापर्व–2, पृ. 180

61. ईवा देव : अणिमा

62. राजकमल चौधरी : मछली मरी हुई, पृ. 119

63. मधुराय : किम्बल रेवन्सवूड, पृ. 166

64. कृष्णा सोबती : मित्रो मरजानी

65. मधुराय : कामिनी, पृ. 117

66. श्रीलाल शुक्ल : राग दरबारी, पृ. 129

67. हरिश मंगलम् – तिराड, पृ. 81–82

68. आशारानी व्यौरा : भारतीय नारी –दशा और दिशा, पृ. 11

69. डॉ. हेमेन्द्र पानेरी : स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास : मूल्य संक्रमण, पृ. 275

70. राजकमल चौधरी : मछली मरी हुई, पृ. 94

71. मोहन राकेश : अनदेखे अनजाने पुल, पृ. 231

72. अज्ञेय : अपने अपने अजनबी, पृ. 26

73. मोहन राकेश : अनदेखे अनजाने पुल, पृ. 231

74. अमृतलाल नागर : अमृत और विष, पृ. 44

75. यशपाल : झूठा सच, पृ. 488
76. राजकमल चौधरी : मछली मरी हुई, पृ. 93
77. राजकमल चौधरी : मछली मरी हुई, पृ. 35
78. अपने अपने अजनबी, पृ. 51
79. मन वृंदावन, पृ. 18
80. बारह घण्टे, पृ. 10
81. अपने अपने अजनबी, पृ. 35
82. झूठा सच, पृ. 608
83. मछली मरी हुई, पृ. 93
84. मन वृंदावन, पृ. 131
85. सामर्थ्य और सीमा, पृ. 82
86. सामर्थ्य और सीमा, पृ. 86
87. सामर्थ्य और सीमा, पृ. 87
88. डॉ. हेमेन्द्रकुमार पानेरी : स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास : मूल्य संक्रमण, पृ. 301
89. बारह घण्टे, पृ. 122
90. झूठा सच, पृ. 122
91. उखड़े हुये लोग, पृ. 211
92. भूले बिसरे चित्र, पृ. 51
93. झूठा सच, पृ. 070
94. अनदेखे अनजाने पुल, पृ. 229–30
95. यह पथ बंधु था, पृ. 488
96. डॉ. हेमेन्द्र पानेरी : स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास : मूल्य संक्रमण, पृ. 301
97. शिवप्रसाद सिंह : अलग–अलग वैतरणी, पृ. 456
98. रामदरश मिश्र : जल टूटता हुआ, पृ. 32
99. जयश्री बारहट्टे : हिन्दी उपन्यास – सातवाँ दशक, पृ. 37

100. शिवप्रसाद सिंह : अलग–अलग वैतरणी, पृ. 22

101. रामदरश मिश्र : जल टूटता हुआ, पृ. 121–122

102. हिमांशु श्रीवास्तव : नदी फिर बह चली, पृ. 27

103. जयश्री बारहट्टे : हिन्दी उपन्यास–सातवां दशक, पृ. 42

104. चमनलाल सूत्र : कोशुर समाचार, अंक जुलाई–2007, पृ. 58

105. श्रीमद् भगवतगीता – 18।6।

106. भगवतीकुमार शर्मा : उर्ध्वमूल, पृ. 301–302

107. चंद्रकांत बक्षी : जातक कथा, पृ. 87

108. चंद्रकांत बक्षी : जातक कथा, पृ. 42

109. वही – पृ. 187

110. वही – पृ. 110

111. बाबु दावलपुरा – कथापर्व, पृ. 49

112. राधेश्याम शर्मा : फेरो, पृ. 72

113. धीरेन्द्र महेता, चिन्ह, पृ. 43

114. वही – पृ. 309

115. धीरेन्द्र पटेल : आगन्तुक, पृ. 188

116. वही – पृ. 186

117. रघुवीर चौधरी : अमता, पृ. 415

118. वही – पृ. 361

119. ध्रुव भट्ट – समुद्रान्तिके, पृ. 5

120. वही – पृ. 9

121. ध्रुव भट्ट – समुद्रान्तिके, पृ. 134

122. रघुवीर चौधरी – अमृता, पृ. 84

123. हरीश मंगलम् – तिराड, पृ. 36

124. धीरुबहेन पटेल – आगन्तुक, पृ. 162

125. सरोज पाठक – नाईटमेर, पृ. 33

126. रघुवीर चौधरी – अमृता, पृ. 47

127. वही – पृ. 47

128. मधुराय : किंबल रेवन्सवूड, पृ. 139

129. भगवतीकुमार वर्मा : उर्ध्वमूल, पृ. 301

130. रघुवीर चौधरी : मछली मरी हुई, पृ. 93

131. राजकमल चौधरी : मछली मरी हुई, पृ. 35

132. रघुवीर चौधरी : अमृता, पृ. 415

133. अज्ञेय : अपने–अपने अजनबी, पृ. 51

134. धीरबहेन पटेल : आगन्तुक, पृ. 186

135. मन वृंदावन, पृ. 131

136. रघुवीर चौधरी : अमृता, पृ. 361

137. उखड़े हुये लोग, पृ. 211

138. भगवतीचरण वर्म : भूले बिसरे चित्र, पृ. 51

139. धीरबहेन पटेल : आगन्तुक, पृ. 162

140. रघुवीर चौधरी : अमृता, पृ. 47

141. कृष्णा सोबती : जिन्दगीनामा, पृ. 1

142. मधुराय : किंबल रेवन्सवूड, पृ. 115

143. डॉ. सुषमा धवन : हिन्दी उपन्यास, पृ. 106

144. डॉ. पारसनाथ मिश्र : मार्क्सवाद और उपन्यासकार यशपाल, पृ. 148

145. रांगेय राघव : आग की प्यास, पृ. 141

146. रांगेय राघव : आखिरी आवाज, पृ. 62

147. भगवतीचरण वर्मा : आखिरी दाँव, पृ. 228

148. भगवतीचरण वर्मा : थके पाँव, पृ. 143

149. अमृतलाल नागर : अमृत और विष, पृ. 65

150. डॉ. रामदरश मिश्र : हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा, पृ. 143

151. सुरेश सिंह : सुबह अंधेरेपन, पृ. 45

152. डॉ. पीताम्बर सरोदे : आधुनिक हिन्दी उपन्यासों में राजनैतिक और आर्थिक चेतना, पृ. 289

153. गिरिधर गोपाल : कन्दली और कुहासे, पृ. 134

154. रामदरश मिश्र : जल टूटता हुआ, पृ. 5–6

155. ओमप्रकाश दीपक : कुछ जिन्दगीयां बेमतलब, पृ. 101

156. अमृतलाल नागर : अमृत और विष, पृ. 700

157. डॉ. पुरुषोत्तम दुबे – व्यक्ति चेतना और स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास, पृ. 339

158. भगवतीचरण वर्मा : सामर्थ्य और सीमा, पृ. 13

159. रामदरश मिश्र : जल टूटता हुआ, पृ. 16

160. रामदरश मिश्र : जल टूटता हुआ, पृ. 25

161. मधुराय : कल्पतरु, पृ. 183

162. मधुराय : कल्पतरु, पृ. 184

163. मधुराय : किंबल रेवन्सवूड, पृ. 1

164. वही – पृ. 1

165. वही – पृ. 5

166. वही – पृ. 5

167. वही – पृ. 95

168. वही– पृ. 67

169. वही – पृ. 13

170. वही – पृ. 141

171. वही – पृ. 169

172. अशोकपुरी गोस्वामी : कूवो, पृ. 5

173. वही – पृ. 173

174. रजनीकुमार पंड्या : कुंती, पृ. 132

175. इला आरब महेता : बत्रीस पूतळीनी वेदना, पृ. 160

176. यशपाल : झूठा सच

177. हरीश मंगलम् : तिराड, पृ. 21

178. रांगेय राघव : आखरी आवाज़, पृ. 62

179. मधुराय : किम्बल रेवन्सवूड, पृ. 67

180. भगवतीचरण वर्मा : आखरी दाँव, पृ. 228

181. गिरिधर गोपाल : कन्दली और कुहासे, पृ. 134

182. इला आरब महेता : बत्रीस पुतळीनी वेदना, पृ. 160

183. अमृतलाल नागर : अमृत और विष, पृ. 100

184. मधुराय : किंबल रेवन्सवूड, पृ. 5

* * * * *